अभिप्रायप्रकाशिका

(चित्सुखाचार्यप्रणीत ब्रह्मसिद्धि की टीका)

एक अध्ययन

डॉ० प्रीति शर्मा

अभिप्रायप्रकाशिका

(चित्सुखाचार्य प्रणीत ब्रह्मसिद्धि की टीका)

एक अध्ययन

डॉ० प्रीति शर्मा

एम०ए०, पी-एच०डी०

प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग,

सत्यवती कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली :: (भारत)

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
न्यू चन्द्रावल, जवाहरनगर,
५८२५, दिल्ली-११००७

Financial assistance received from TTD (Tirupati) for the publication of this book.

© सर्वाधिकार : लेखिका

प्रथम संस्करण : १९९४

मूल्य : रु० २००-००

ISBN : 81-86339-00-0

मुद्रक : चौहान प्रिन्टर्स , बी-७२/१६ए, (समीप रबड़ फैक्ट्री)
उत्तरी घौण्डा, दिल्ली-५३

पूज्य माता-पिता

को

सविनय-सप्रणति

शब्द-तत्त्वमेव प्रतिभायामवभासते ।

—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ८८

विचार्यमाणे पुनराम्नाय एव बलवान् ।

—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० १५२

वेदान्तेभ्यश्च ब्रह्मैवावगम्यते न तु कार्यम् ।

—अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० २८२

संसारनिवृत्तिर्मुक्तिः न तु अविद्यानिवृत्तिर्मुक्तिः ।

—अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ४८८

शब्द-संकेत

अ० प्र०	—	अभिप्रायप्रकाशिका
केन० उ०	—	केनोपनिषत्
ख० ख०	—	खण्डनखण्डखाद्य
गौ० का०	—	गौडपादकारिका
छा० उ०	—	छाग्योग्योपनिषत्
तै० उ०	—	तैत्तिरीयोपनिषत्
बृ० उ०	—	बृहदारण्यकोपनिषत्
ब्र०सू०शा०भा०	—	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
भा०शु०	—	भावशुद्धि
मनु०	—	मनुस्मृति
मां०उ०	—	माण्डूक्योपनिषत्
मु०उ०	—	मुण्डकोपनिषत्
वि०चू०	—	विवेकचूडामणि
श्वे०उ०	—	श्वेताश्वतरोपनिषत्

शुभाशंसा

वेदान्त की परम्परा में आचार्य मण्डनमिश्र-प्रणीत 'ब्रह्मसिद्धि' एक अत्यन्त महिमा मंडित ग्रन्थ है। वस्तुतः अद्वैत सिद्धान्त के चिन्तन की आधारशिला को दृढ़ बनाने में जिन ग्रन्थों का अवदान अविस्मरणीय माना जाता है उनमें मण्डन मिश्र का यह ग्रन्थ अनुपमेय है। आचार्य मिश्र के इस ग्रन्थ पर 'अभिप्रायप्रकाशिका' नामक चित्सुखाचार्यप्रणीत टीका अन्वर्थनाम्नी है। वेदान्त के दुरूह सिद्धान्तों, विशेषकर ब्रह्मविषयक चिन्तन को केन्द्रबिन्दु मान कर वैचारिक चिन्तन की गूढ़ परम्परा को प्रकाशित करने में इस टीका का अवदान अनवद्य है।

प्रगल्भ शैली में परपक्ष का खण्डन करती हुई अभिप्रायप्रकाशिका टीका बोध की दृष्टि से सुबोध नहीं है। मुझे हर्ष है कि इस प्रकार की दुरूह टीका पर सांगोपांग अध्ययन करने के लिए आयुष्मती डॉ० प्रीति शर्मा समर्पित भाव से सन्नद्ध हुईं और उनका श्रमपूर्वक लिखा गया ग्रन्थ आज प्रकाशित हो रहा है, यह मेरे लिए गर्व का विषय है।

डॉ० प्रीति शर्मा ने अपनी विषयप्रतिपादन की क्षमता से ग्रंथग्रन्थि को राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से सुलझाया है। अभिप्राय-प्रकाशिका सदृश मानक टीकाओं पर शोधकार्य सर्वथा अभिनन्दनीय है। आशा करता हूँ कि इस प्रयास का विद्वत्समाज में समादर होगा।

मैं इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

डॉ० वाचस्पति उपाध्याय
आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

पुरोवाक्

शङ्कराचार्यपरवर्ती चित्सुखाचार्यप्रणीत अभिप्रायप्रकाशिका अद्वैतवेदान्त के टीका ग्रंथों में शिरोमणि है। यहाँ यह संकेत करना अपेक्षित है कि शास्त्र के क्षेत्र में अथ एवं इति कदापि नहीं होती। अतएव किसी भी शास्त्र के प्रस्थापनाचार्य के साथ ही उस शास्त्र की पूर्णता का उद्घोष नहीं हो जाता, अपितु जो शास्त्र जितना गम्भीर एवं समृद्ध होता है तथा उसका प्रस्थापन उस शास्त्र के प्रस्थापक के द्वारा जितनी विशदता एवं व्यापकता के साथ किया जाता है, उतनी ही उसकी शाखाएँ पुष्पित-पल्लवित एवं बहुचर्चित होती है। यह तथ्य चाहे वेदान्त शास्त्र हो, चाहे काव्य शास्त्र, सभी पर चरितार्थ होता है। संक्षेपतः वेदान्त जैसे सम्प्रदायों के प्रस्थापकों, शङ्कराचार्य आदि के उदाहरण इस सम्बन्ध में विशेष-रूप से वक्तव्य है। कहना न होगा शङ्कराचार्य ने वेदाश्रित जिस अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, वह उन्हीं के साथ समाप्त नहीं हो गया, अपितु वह आज भी विश्वभर में अनेक रूपों में अनुशीलित हो रहा है। फलतः दार्शनिक दृष्टि के साथ-साथ आज का वेदान्त का तुलनात्मक अनुशीलन भौतिकी एवं रसायन शास्त्र आदि के साथ भी सम्पन्न हो रहा है। इस सम्बन्ध में डॉ० राजा रमन्ना द्वारा किया गया वेदान्त एवं भौतिकविज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन तथा सी०ए० निनान का ग्रंथ, From Cell to Self विशेषरूप से उदाहरण योग्य है। यहाँ जर्मन् करमून्स्टर द्वारा वेदान्त का सामाजिक दृष्टि से किया गया अध्ययन भी उल्लेखनीय है। इस सन्दर्भ में Germen-Scholars on India, Vol. 1, के अन्तर्गत प्रकाशित लेख "A Note on Sankara's conception of man" प्रशंसनीय है। अतः यह कहना संगत होगा कि आज के सन्दर्भ में वेदान्त की उपयोगिता की दृष्टि से भी इस शास्त्र का अध्ययन देश-विदेश में सम्पन्न हो रहा है।

उपर्युक्त दृष्टि को ध्यान में रखते हुए प्रकृत के विषय में यह कहना समीचीन होगा कि शङ्कराचार्य ने जिस अद्वैत वेदान्त की प्रस्थापना की थी, उसका

परिशीलन आज भी विविध रूपों में हो रहा है। शास्त्रीय दृष्टि से अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन शंकराचार्य के परवर्ती आचार्यों में, चित्सुखाचार्य ने एक विशेष शैली में किया था, जो न्यायशास्त्रसम्मत एवं विशेष तर्कपद्धति से समन्वित थी। एक सफल टीकाकार के रूप में चित्सुखाचार्य ने वेदान्त के आकरग्रंथ 'ब्रह्मसिद्धि' पर अभिप्रायप्रकाशिका नामक टीका की रचना करके ब्रह्मसिद्धि के सिद्धान्तों को अत्यन्त सुगम बना दिया है। यद्यपि अभिप्राय-प्रकाशिका के अतिरिक्त ब्रह्मसिद्धि पर आनन्दपूर्णमुनि की 'भावशुद्धि' तथा शंखपाणि की टीका भी उपलब्ध हैं, किन्तु अभिप्रायप्रकाशिका के अन्तर्गत ब्रह्मसिद्धि के सिद्धान्तों का विश्लेषण जिस सरलसुबोध एवं युक्तिपरक पद्धति से किया गया है, वह अन्यत्र अलभ्य है। इस प्रकार अभिप्राय प्रकाशिका के प्रस्तुत अनुशीलन से जहाँ एक ओर 'ब्रह्मसिद्धि' के सिद्धान्तों को समझने में सुगमता होगी वहाँ अद्वैत वेदान्त के मूल सिद्धान्तों के बोधार्थ भी यह अध्ययन सौकर्य प्रदान करेगा। इस ग्रंथ में वेदान्त के मूल एवं आलोचनात्मक ग्रंथों का आश्रय लेकर विषय प्रतिपादन किया गया है। इससे इस ग्रंथ की प्रामाणिकता स्वतः सिद्धि है। अभिप्रायप्रकाशिका का प्रस्तुत अनुशीलन किसी भी भाषा में प्रकाशित प्रथम प्रयास है। अतः आशा है कि इस अध्ययन के आधार पर वेदान्त के दिशाबोध का प्रसार होगा तथा वेदान्त के अध्येताओं के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगा। मैं आशा करता हूँ कि लेखिका की यह अध्ययनसरणि उत्तरोत्तर प्रगतिशील रहेगी तथा वे वेदान्त दर्शन के दार्शनिक एवं सामाजिक स्वरूप को विशद करने में सिद्ध होगीं—'नाऽन्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय"।

मणिद्वीप,
दिल्ली
१९९४

डॉ० राममूर्ति शर्मा
एमरिटसफ़ैलो, संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

पुरोवाक

चित्सुखाचार्य रचित अभिप्रायप्रकाशिका अद्वैत वेदान्त का एक महत्वपूर्ण टीका ग्रन्थ है। प्रसन्न गम्भीर एवं लोकोपादेय होने के कारण अद्वैतवेदान्त-दर्शन भारतीय दर्शन के क्षेत्र में शिरोमणि समझा जाता है। यदि यह कहा जाय कि भारतीय दर्शन की परिधि में सर्वाधिक मौलिक एवं टीका ग्रन्थों की निर्मिति अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में हुई है तो असमीचीन न होगा। अद्वैत वेदान्त के सम्राट् आचार्य शङ्कर हैं। आचार्य शङ्कर ने अद्वैत वेदान्त को एक प्रौढ़ रूप प्रदान कर एक समन्वित वैदिक सिद्धान्त सम्प्रदाय के रूप में सुप्रतिष्ठित किया था। शङ्कराचार्यपरवर्ती आचार्यों में सुरेश्वर, वाचस्पति मिश्र एवं प्रकाशात्मयति ने आभासवाद, अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद के आधार पर अद्वैत वेदान्त की मौलिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की थीं। अद्वैत वेदान्त के परवर्त्ती आचार्यों में जिन प्रमुख आचार्यों का परिगणन होता है, उनमें आचार्य चित्सुख वरेण्य हैं। इसका कारण यह है कि चित्सुखाचार्य ने अपने तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी) आदि ग्रन्थों के अन्तर्गत जहाँ वेदान्त के सूक्ष्म सिद्धान्तों का विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वहाँ अपने पूर्ववर्ती खण्डनखण्डखाद्य के रचयिता श्रीहर्ष की तर्कपद्धति का आश्रय लेकर अद्वैत वेदान्त की नैय्यायिक पद्धति में चित्सुखी के अन्तर्गत विशेष रूप से वेदान्त सिद्धान्तों की व्याख्या प्रस्तुत की थी। यहां यह उल्लेखनीय है कि चित्सुखाचार्य ने 'अनिर्वचनीयता-सर्वस्व' खण्डनखण्डखाद्य में जिस भाषा शैली एवं तर्क पद्धति का अनुसरण किया था उसका उदय बहुत समय पूर्व बौद्ध कथावस्तु (१२०० ई० पू०) में हुआ था तथा जो पतञ्जलि के महाभाष्य तथा नागार्जुन की माध्यमिक कारिका के अन्तर्गत पुष्पित होकर वात्स्यायन, उद्योतकर एवं उदयन आदि आचार्यों की कृतियों में ससुरभित फलित हुई थी। इस व्याख्या पद्धति का दर्शन गौड़पादाचार्य, शङ्कराचार्य तथा मण्डनमिश्र के ग्रन्थों में भी होता है। यहाँ यह वक्तव्य है कि उपर्युक्त व्याख्यापद्धति शङ्कराचार्य के परवर्ती आचार्यों की कृतियों-पंचपादिकाविवरण, संक्षेपशारीरक तथा इष्टसिद्धि आदि वेदान्त के अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है।

चित्सुखाचार्य की व्याख्यापद्धति के सम्बन्ध में यह तथ्य निरूपणीय है कि उन्होंने श्रीहर्ष की तर्क पद्धति के विषय में हानोपादान दृष्टि अपनाते हुए एक परिष्कृत पद्धति का विकास किया था। जिसके अनुसार चित्सुखाचार्य ने श्रीहर्ष की 'अनिर्वचनीय' पद्धति को अपनाया था किन्तु वे श्रीहर्ष की तरह तात्र वितण्डा के पक्षपाती न थे, अपितु उन्होंने वाद, जल्प एवं वितण्डा तीनों का ही प्रयोग अपनी तर्क पद्धति के अन्तर्गत किया था। यदि वाद के द्वारा उन्होंने अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों को विशद किया तो वितण्डा तथा जल्प की सहायता से वेदान्तविरोधी सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का निराकरण किया था। इस प्रकार यह द्रष्टव्य है कि अभिप्रायप्रकाशिका के लेखक चित्सुखाचार्य ने अद्वैतसिद्धान्त-समर्थक एक विशिष्ट व्याख्या पद्धति एवं तर्क पद्धति का विकास किया था।

जहाँ तक प्रस्तुत अध्ययन के आधार स्वरूप चित्सुखाचार्यप्रणीत ब्रह्मसिद्धि की टीका अभिप्राय प्रकाशिका का प्रश्न है, अन्वर्थनाम्नी यह टीका मण्डनमिश्र रचित ब्रह्मसिद्धि के अभिप्राय को प्रकाशित करने में अत्यधिक सफल सिद्ध हुई है। वर्तमान सन्दर्भ में यह कहना समीचीन होगा कि किसी भी मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण कृति के प्रणेता आचार्य के द्वारा लिखित किसी अन्य ग्रन्थ की टीका भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। इसका कारण यह है कि टीका-कर्ता आचार्य की टीका में उसके द्वारा रचित मूल ग्रन्थ की ही तरह टीका में भी वैदुष्य एवं वैशारद्य का दर्शन स्वभाविक है। यह तथ्य चित्सुखाचार्य रचित अभिप्राय-प्रकाशिका के विषय में चरितार्थ होता है। निष्कर्षतः अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत भी चित्सुखाचार्यप्रणीत चित्सुखी में प्राप्त शास्त्रीय वैदुष्य एवं स्वारस्य के दर्शन होते हैं।

अभिप्रायप्रकाशिका के माध्यम से चित्सुखाचार्य ने वेदान्त के सिद्धान्तों का अभिप्राय सप्रमाण तथा सतर्कता के साथ प्रस्तुत किया हैं। इस प्रकार अभिप्राय प्रकाशिकावर्ती चित्सुखाचार्य की शैली पर उस तर्कपद्धति का प्रभाव परिलक्षित होता है जो चित्सुखी के अन्तर्गत अपने उत्कृष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है। इसके अतिरिक्त अभिप्रायप्रकाशिका में वह सरल एवं सुबोध तथा परिभाषात्मक शैली भी देखने को मिलती है, जिसके द्वारा वेदान्त के तलस्पर्शी सिद्धान्तों को अल्प शब्दों के द्वारा सरल ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

अभिप्रायप्रकाशिका की आश्रय स्वरूपा ब्रह्मसिद्धि वेदान्त के क्षेत्र में मण्डनमिश्र की एक महत्वपूर्ण देन है। यद्यपि आचार्य मण्डनमिश्र शाङ्कर

करते हुए अभिप्रायप्रकाशिकाकार के अनुसार सिद्धान्तमत का प्रस्थापन किया गया है। इसके अतिरिक्त साधक एवं सिद्धि का स्वरूप विवेचन, सिद्धि एवं साधकावस्था में वर्तमान जीवनमुक्त, आधिकारिक जीवन्मुक्त एवं सिद्ध जीवन मुक्त, स्थितप्रज्ञ, साधक एवं गुणातीत, साधक एवं जीवन्मुक्ति तथा सिद्ध के स्वरूप के सम्बन्ध में विवेचन भी इसी अध्याय के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय के अन्त में असत्कार्यवाद, सत्कार्यवाद एवं विवर्तवाद तथा सत्तात्रयवाद के सम्बन्ध में भी विवेचन किया गया है तथा अन्त में अभिप्राय-प्रकाशिकाकार के अनुसार विध्यर्थवाद का निरूपण किया गया है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का षष्ठ अध्याय "उपसंहार" है। उपसंहार के अन्तर्गत अभिप्रायप्रकाशिका के आधार पर अद्वैत तत्त्व का प्रस्थापन किया गया है।

यहाँ यह कथन आवश्यक है कि अभिप्रायप्रकाशिकाकार के मन्तव्य एवं तात्पर्यबोध में मुझे आनन्दपूर्णमुनि की भावशुद्धि तथा शंखपाणिरचित ब्रह्म-सिद्ध की टीका से पर्याप्त सहायता मिली है। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अद्वैत वेदान्त के सुप्रतिष्ठित एवं प्रख्यात विद्वान् प्रोफेसर वेमुरि आञ्जनेय शर्मा के ग्रंथ Chitsukha's Contribution to Advaita से भी मुझे प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के विषय में पर्याप्त सहायता मिली है। इसके अतिरिक्त बाल-सुब्रमनियन की पुस्तक A Study of Brahmasiddhi भी प्रस्तुत शोधकार्य में सहायक सिद्ध हुई है। साथ ही अपने परम श्रद्धास्पद गुरुवर प्रोफेसर वाचस्पति उपाध्याय के ग्रंथ, मीमांसादर्शनविमर्श तथा अर्थालोकलोचनसहित सम्पादित अर्थसंग्रह से भी मुझे पूरी सहायता मिली है। अभिप्राय प्रकाशिका के आशय को समझने के लिए वेदान्त के ब्रह्मसूत्र भाष्य आदि मूल ग्रंथों एवं भामती तथा रत्नप्रभा प्रतृति टीका ग्रंथों का आश्रय लेना स्वाभाविक ही है। मैं इन सभी मनीषी विद्वानों के प्रति श्रद्धावनत हूं तथा उन सभी प्राचीन एवं अर्वाचीन विपश्चिद्वरों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ जिनसे मुझे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रस्तुत अध्ययन में स्वल्पाधिक सहयोग मिला है।

यह कहने में मुझे गौरवानुभव है कि संस्कृत के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान्, प्रो० वाचस्पति उपाध्याय पी०एच०डी०, डी०लिट्०, प्रो० तथा अध्यक्ष संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के वैदुष्यपूर्ण निर्देशन में शोध कार्य सम्पन्न करने का शुभावसर मिला। उनके आशीर्वाद एवं अपार स्नेह के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापनार्थ मेरे लिए शब्दान्वेषण असंभव है। अतः मात्र श्रद्धावनत होकर ही उन्हें अपना प्रणाम निवेदन करती हूँ। इस सम्बन्ध में इतना ही कह सकती हूँ कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध गुरुवर के ही अपार आशीर्वादों का फल है। इसी प्रकार

पूज्यवाची जी श्रीमती शारदा जी उपाध्याय जी से बहुमूल्य आशीर्वाद एवं प्रेरणाएँ प्राप्त हुई हैं जिनके लिए मैं उनकी अतिशय कृतज्ञ हूँ। मनीषी विद्वान् डॉ.के.पी. भट्ट, प्रधानाचार्य, सत्यवती कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, से मुझे प्रोत्साहन एवं प्रेरणा मिली है, उसके लिए मैं उनकी परम कृतज्ञ हूँ। इसके अतिरिक्त मुझे दिल्ली विश्वविद्यालय पुस्तकालय तथा पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के पुस्तकालय से भी पूरी सहायता मिली है। एतदर्थ मैं इन पुस्तकालयों के अधिकारियों को बहुशः धन्यवाद निवेदन करती हूँ। इस सम्बन्ध में दिल्ली विश्वविद्यालय पुस्तकालय के उपपुस्तकालयाध्यक्ष, डॉ० जे०बी० खन्ना की मैं विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने प्रायः मुझे प्रत्येक ग्रन्थ को सुलभ बना दिया।

प्रस्तुत शोध कार्य की सम्पन्नता में राष्ट्रपति-सम्मानित पूज्य पिताजी प्रो० (डॉ०) राममूर्ति शर्मा, पी-एच०डी०, डी० लिट्०, एमरिटसफैलो (यू.जी.सी.) संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, से मुझे जो आशीराशि प्राप्त हुई है, वह 'आत्मा वैजायते पुत्रः' के रूप में स्वाभाविक ही है। अत उनके प्रति श्रद्धानवत होती हुई पुनः-पुनः आशीर्वाद की कामना करती हूँ। इसी प्रकार पूज्या माता जी के स्नेहिल आशीर्वाद से यहाँ तक पहुँच सकी हूँ। अतः उनके चरणाम्बुजों में मनसा वन्दन करती हूँ। इसी प्रकार अपने श्रद्धेय पितृव्य डॉ० वाचस्पति शर्मा प्राध्यापक, के.जी.के. पोस्टग्रेजुएट कालेज, मुरादाबाद, अग्रज श्री सुनीलशर्मा M. Teach, M.B.A., प्राध्यापक, फैकल्टी ऑफ मैनेजमेंट स्टडीज, दिल्ली विश्वविद्यालय, परमादरणीया भाभीजी श्रीमती कल्पनाशर्मा तथा अनुजों, श्री प्रमन्नकुमार शर्मा एवं श्री अभिषेज शर्मा से भी मुझे प्रचुर स्नेह एवं प्रेरणाएँ मिली हैं। इनके प्रति मेरा परमादर एवं भूरि-भूरि शुभ कामनाएँ प्रस्तुत हैं। अपनी सुहृत् श्रीमती सुषमा शर्मा की शुभकानाएँ भी मेरे शोध कार्य में सदा साथ रही हैं, जिसके लिए मैं उन्हें अनेकशः शुभकामनाएँ एवं धन्यवाद अर्पित करती हूँ।

श्री श्यामलाल मल्होत्रा, प्रो० ईस्टर्न बुकलिंकस, के प्रति भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने सहर्ष शोध प्रबन्ध के प्रकाशन एवं मुद्रण का भार लिया और अल्प समय में इसे प्रस्तुत ग्रन्थ का रूप प्रदान किया। मैं चौहान प्रिंटर्स दिल्ली, का भी धन्यवाद देती हूँ कि उन्होने इस कार्य को बड़े मनोयोग से संपन्न किया है।

अन्त में यह निवेदन करना आवश्यक है कि सावधानी बरतने पर भी ग्रन्थ के अन्तर्गत विविध त्रुटियों का पाया जाना सम्भव है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थ के अन्तर्गत विविध त्रुटियों का पाया जाना सम्भव है। इस सम्बन्ध में "गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादत्तः" का स्मरण करते हुए प्रबन्धलेखिका क्षमायाचना करती है।

मणिद्वीप दिल्ली **प्रीति शर्मा**

१९९४

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

पुरोवाक् VII

प्रथम अध्याय : परिचयात्मक १—२७

(क) अभिप्राय प्रकाशिका के रचयिता चित्सुखाचार्य
(ख) चित्सुखाचार्य की कृतियाँ
(ग) चित्सुखाचार्य की अद्वैत वेदान्त को देन
(घ) शङ्कराचार्य की दार्शनिक देन
(ङ) भामती प्रस्थान
(च) विवरण प्रस्थान
(छ) श्रीहर्ष एवं भेदवाद
(ज) डा० दास गुप्त का विचार एवं उसकी समीक्षा
(झ) चित्सुखाचार्य की शास्त्रीय देन
(ञ) चित्सुखाचार्य की पारस्परिक दार्शनिक दृष्टि
(ट) आचार्य चित्सुख की तर्कपद्धति
(ठ) अभिप्राय प्रकाशिका का वर्ण विषय
(ड) अभिप्रायप्रकाशिका का अध्ययन-सम्पादन
(ढ) प्रस्तुत अध्ययन की विशेषताएँ

द्वितीय अध्याय : ब्रह्मसिद्धि का ब्रह्मकाण्ड एवं अभिप्राय प्रकाशिका २८—६९

(क) अभिप्राय प्रकाशिका (टीका) का आधार ब्रह्मसिद्धि और उसका सिद्धान्त
(ख) अभिप्रायप्रकाशिका के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप
(ग) आनन्दस्वरूपता का विचार
(घ) आनन्द की भावरूपता
(ङ) ब्रह्मदत्त का भावाद्वैत और उसका खण्डन

(च) आत्मैक्य एवं ब्रह्मैक्य के सम्बन्ध में शंका
(छ) क्षणिकविज्ञानवादीमतविमर्श
(ज) अविद्या का स्वरूप
(झ) वैभाषिकमतनिरूपण
(ङ) अविद्या का जीवाश्रयत्व
(ट) अविद्या-निवृत्ति का स्वरूप
(ठ) अविद्यानिवृत्ति एवं मोक्ष
(ड) सद्योमुक्ति एवं जीवन्मुक्ति
(ढ) सर्वज्ञात्ममुनि का विचार
(ण) मीमांसा दर्शन एवं मोक्ष
(त) यज्ञकर्म एवं तत्त्वज्ञान
(थ) स्फोटवाद एवं अद्वैतवाद

तृतीय अध्याय : ब्रह्मसिद्धि का तर्ककाण्ड एवं अभिप्राय प्रकाशिका ७०—९५

(क) प्रमाण का स्वरूप
(ख) ब्रह्मबोध में इतर प्रमाणों का अनुपयोगित्व
(ग) मीमांसक का मत और उसका खण्डन
(घ) मीमांसक के अनुसार शब्दों तथा क्रिया के सम्बन्ध पर विचार
(ङ) प्रत्यक्ष प्रमाण का आगम द्वारा बाध
(च) स्वतः प्रामाण्य का सिद्धान्त
(छ) कर्मविधि एवं वेदान्त का अविरोध
(ज) अनेकान्तवाद का निरसन
(झ) अनेकान्तवाद का खण्डन
(ञ) समीक्षा

चतुर्थ अध्याय : ब्रह्मसिद्धि का नियोग-काण्ड एवं अभिप्राय प्रकाशिका ९६—१२९

(क) नियोग का स्वरूप
(ख) क्रिया के सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट का मत

(ग) प्रभाकर का मत
(घ) अभिप्राय प्रकाशिकाकार द्वारा उक्तमतों का खण्डन
(ङ) कर्म एवं ज्ञान के सम्बन्ध में मण्डनमिश्र का मत
(घ) अभिप्राय प्रकाशिकाकार का मत
(छ) श्रवण मनन निदिध्यासन तथा तत्वसाक्षात्कार
(ज) शाब्दापरोक्षवाद एवं शाब्दापरोक्षवाद
(झ) ब्रह्मसिद्धिकार का मत
(अ) अभिप्रायप्रकाशिकाकार का मत
(ट) जगन्मिथ्यात्व का स्वरूप
(ठ) अनिर्वचनीयख्यातिवाद का निरूपण
(ड) आत्मख्यातिवाद का सिद्धान्त
(ढ) असत्ख्यातिवाद का सिद्धान्त
(ण) अन्यथाख्यातिवाद
(त) अख्यातिवाद का सिद्धान्त
(थ) सत्ख्यातिवाद का सिद्धान्त
(द) अनिर्वचनीय ख्यातिवाद का सिद्धान्त
(ध) अनिर्वचनीय एवं विपरीख्याति

पंचम अध्याय : ब्रह्मसिद्धि का सिद्धिकरण एवं अभिप्राय प्रकाशिका १३०-१५१

(क) ब्रह्म का अनौपनिषदत्व
(ख) अभिप्रायप्रकाशिकाकार का मत
(ग) सिद्धान्त पक्ष का प्रस्थापन
(घ) ब्रह्म का मायित्व
(ङ) साधक एवं सिद्धि का स्वरूपविवेचन
(च) सिद्ध एवं साधकावस्था में वर्तमान जीवन्मुक्त
(छ) आधिकारिक जीवन्मुक्त एवं सिद्ध जीवन्मुक्त
(ज) स्थितप्रज्ञ साधक एवं गुणातीत,
(झ) साधक एवं जीवन्मुक्ति

(ञ) सर्वज्ञात्मुनि का मत

(ट) सिद्धि का स्वरूप

(ठ) असत्कार्यवाद, सत्कार्यवाद एवं विवर्तवाद

(ड) सत्तात्रैविध्यवाद

(ढ) विध्यर्थवाद

षष्ठ अध्याय : उपसंहार १५२—१६८

अभिप्रायप्रकाशिका के आचार पर अद्वैत तत्व-प्रस्थापन

परिशिष्ठ-१

पारिभाषिक शब्दावली १६७—१६९

परिशिष्ट-२

सहायक ग्रन्थ सूची १७०—१७४

शाब्दानुक्रमणिका १७५—१७६

प्रथम अध्याय

परिचयात्मक

अभिप्राय प्रकाशिका के रचयिता चित्सुखाचार्य

शंकराचार्य-परवर्ती अद्वैत वेदान्त के आचार्यों में अभिप्राय प्रकाशिका के रचयिता चित्सुखाचार्य शिरोमणि हैं। इसका कारण उनकी कृतियां एवं वेदान्तविषयक ग्रन्थियों का विशेषण है। चित्सुखाचार्य ही चित्सुखमुनि के नाम से प्रख्यात हैं। ये गौडेश्वर ज्ञानोत्तम जिन्हें आराध्यपाद भी कहते थे, के शिष्य थे। प्रकाशात्मा (११०० ई०) के परवर्ती अद्वैत वेदान्त के महत्त्वपूर्ण लेखकों में चित्सुखाचार्य का नाम परिगणित होता है। ज्ञानोत्तम गौडप्रदेश (बंगाल) के राजगुरू एवं एक महान् संत थे।[1] चित्सुखाचार्य के गुरू की दो कृतियों-न्यायसुधा तथा ज्ञानसिद्धि का उल्लेख मिलता है।[2] ज्ञानोत्तम ही सत्यानन्द के नाम से भी प्रसिद्ध थे।[3] यद्यपि चित्सुखाचार्य की चौदह कृतियों का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनमें तत्त्वप्रदीपिका जो चित्सुखी के नाम से भी प्रसिद्ध है, का अत्यन्त महत्त्व है। चित्सुखाचार्य ने इस ग्रन्थ के अन्तर्गत कुमारिल, सुरेश्वराचार्य, शालिकनाथमिश्र, वाचस्पतिमिश्र, उद्योतकर, उदयनाचार्य, बल्लभ एवं पद्मपाद आदि विद्वानों का उल्लेख किया है।

---

१. इति श्री गौडेश्वराचार्य-परमहंस-परिव्राजकाचार्य-ज्ञानोत्तमपूज्यपाद-शिष्य . . .

२. देखिए, चित्सुखी तथा उसकी टीका, पृ० २८५। निर्णयसागर-संस्करण।

३. ज्योतिर्यद् दक्षिणामूर्तिव्यासशङ्करशब्दितम्।
ज्ञानोत्तमाख्यं तद् वन्दे सत्यानन्दपदोदितम्॥ तत्त्वप्रदीपिका पृ० ३।

अधिकरणरत्नमाला तथा तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या के लेखक सुखप्रकाश चित्सुखाचार्य के शिष्य थे तथा सुखप्रकाश के शिष्य अमलानन्द, कल्पतरु (१२४७-१२६०) के लेखक थे। इस प्रकार चित्सुखाचार्य का स्थितिकाल १२०० ई० लगभग माना जाता है। आन्ध्रप्रदेश में विशाखापत्तनम् जिले में सिंहाचलम् के मन्दिर में जो अभिलेख (Inscriptions) मिलते हैं, उनके आधार पर चित्सुखाचार्य का स्थितिकाल १३०० ई० का प्रथम चतुर्थांश प्रतीत होता है। इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए यह उल्लेख सहायक सिद्ध होता है कि शकसंवत्, ११४२ (१२२० ई०) में जिन चित्सुख भट्टारक (नृसिंह मुनि) के द्वारा सिंहाचलम् के मन्दिर को भेंट दी गई थी, वे नृसिंह-मुनि चित्सुखाचार्य ही थे।

सिंहाचलम् मन्दिर के अन्तर्गत एक अन्य लेख भी मिलता है, जिसके अनुसार शक संवत् १२०६ (१२८४ ए. डी) में ब्राह्मणदास पाण्डेय के द्वारा स्वर्ण भेंट प्रदान की गई थी तथा उस समय चित्सुख सोमयाजी का मन्दिर के रूप में उल्लेख मिलता है। इस प्रकार इन चित्सुख के काल एवं उपर्युक्त चित्सुखाचार्य के काल में लगभग अर्ध शताब्दी का अन्तर मिलता है। गोपीनाथ कविराज का विचार है कि श्रीधर स्वामी (१२५०) की विष्णुपुराण की टीका आचार्य चित्सुख की टीका का ही रूपान्तर है। इन तथ्यों के आधार पर भी चित्सुखाचार्य का काल १२०० ई० ही सिद्ध होता है।

चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका के अन्तर्गत न्यायलीलावतीकार वल्लभाचार्य के मत का निराकरण किया है। वल्लभाचार्य का काल बारहवीं शताब्दी है। आचार्य चित्सुख ने वल्लभाचार्य के मत का खण्डन करते हुए, श्रीहर्ष के मत को भी उद्धृत किया है। जिस समय चित्सुखाचार्य का आविर्भाव हुआ था, उस समय न्यायमत का प्रभाव बढ़ रहा था। बारहवीं शताब्दी में श्रीहर्ष ने न्याय मत का खण्डन किया था, किन्तु तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में गंगेश ने श्रीहर्ष के मत का निराकरण करके न्याय मत का प्रचार किया था।[1] इसके अतिरिक्त नैयायिकों की ही तरह वैष्णव आचार्य भी अद्वैत मत का खण्डन कर रहे थे। वस्तुतः अद्वैत विरोधी परिस्थिति में चित्सुखाचार्य ने ही न्यायादि मतों का खण्डन करके अद्वैत मत की प्रस्थापना

---

१. देखिए, वेदान्ताङ्क—(कल्याण) सितम्बर १८८३।

की थी। इस प्रकार चित्सुखाचार्य को अद्वैत वेदान्त के गिरते हुए स्तम्भ का का उद्धारक कहना समुचित होगा।

चित्सुखाचार्य की कृतियां

चित्सुखाचार्य के नाम से जिन कृतियों का उल्लेख मिलता है, वे इस प्रकार हैं :—

(१) अधिकरण संङ्गति।
(२) अधिकरण मंजरी।
(३) तत्त्वप्रदीपिका या तत्त्वदीपिका (चित्सुखी)
(४) नैष्कर्म्य सिद्धि व्याख्या (ब्रह्मतत्त्व प्रकाशिका)।
(५) पञ्चपादिकाविवरणव्याख्या (भावद्योतनिका)।
(६) प्रमाणरत्नमालाव्याख्या (तात्पर्य टीका)।
(७) अभिप्राय प्रकाशिका (ब्रह्मसूत्र भाष्यभाव प्रकाशिका)
(८) ब्रह्मसूत्र-भाष्यभाव-प्रकाशिका।
(९) वेदान्तसिद्धान्तकारिकामंजरी।
(१०) आनन्दबोधाचार्यकृत न्यायमकरन्द की विवृत्ति।
(११) खण्डनखण्डखाद्य की टीका, भावदीपिका।
(१२) षड्दर्शनसंग्रहवृत्ति।
(१३) ब्रह्मस्तुति।
(१४) विष्णु-पुराण की टीका।
(१५) शङ्कर-दिग्-विजय।
(१६) भावतत्त्वप्रकाशिका (ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य की टीका)
(१७) श्रीमद्भागवत की टीका।

उपर्युक्त कृतियों का अन्वेषण महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री ने किया है। जैसा कि डा० वी० आंजनेय शर्मा ने लिखा है, उपर्युक्त ग्रन्थों में से निम्नलिखित आठ ग्रन्थ प्रकाशित है :—

(१) अधिकरणमंजरी
(१) अधिकरणसंगति
(३) तत्त्वप्रदीपिका
(४) अभिप्रायप्रकाशिका
(५) भावदीपिका
(६) भावद्योतनिका

(७) भावप्रकाशिका
(८) विष्णु-पुराण टिप्पणी

उपर्युक्त सत्रह में से तीन—

(१) वेदान्तसिद्धान्तकारिका मंजरी[1]
(२) भावतत्त्वप्रकाशिका[2]
(३) प्रमाण रत्नमाला व्याख्या[3]—

पाण्डुलिपि रूप में प्राप्त हैं। ब्रह्मस्तुति का उल्लेख रामानन्द-कृत काशीखण्ड की टीका के अन्तर्गत मिलता है।[4] षड्दर्शनसंग्रहवृत्ति का उल्लेख सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने किया है[5] तथा न्यायमकरन्दविवृति का संकेत श्री पी० एस० शास्त्री ने किया है।[6] जहाँ तक शंकरदिग्विजय तथा भागवतव्याख्या की बात है, इनका उल्लेख तत्त्वप्रदीपिका की भूमिका (हिन्दी) जो काशी से प्रकाशित हुई है, के अन्तर्गत उपलब्ध है।[7] पञ्चपादिका-विवरण का उल्लेख शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य की संस्कृतभूमिका के अन्तर्गत मिलता है।[8]

यहाँ उपलब्ध ग्रन्थों तथा पाण्डुलिपियों के सम्बन्ध मे संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना समुचित होगा।

अधिकरण मंजरी—इस ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य के अधिकरणों के वर्ण्य विषय की संक्षिप्ति वर्तमान है।[9]

अधिकरण संगति—इस ग्रन्थ के अन्तर्गत ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों की सङ्गति प्रस्तुत की गई है।[10]

---

1. MS.R. 1492, Madras Govt. MS. Library.
2. R. 3271 (Madras Govt. MS. Library).
3. R. 3273 (Madras Govt. MS. Library)
4. Madras Govt. MS. Library
5. H.I P. Vol, P. 184 n.
6. Tanjore MS. Catalogue, Vol. XIII p. 5330
७. तत्त्वप्रदीपिका, हिन्दी भूमिका, पृ० १५ तथा १६
८. देखिए ब्र०सू०शा०भा० कामकोटि प्रकाशन, मद्रास १९५४
९. इसका प्रकाशन JORM, Vol. V Part-IV में हुआ है।
१०. इस ग्रन्थ का प्रकाशन IC.S.S. के अन्तर्गत हुआ था।

तत्त्वप्रदीपिका—इसके अन्तर्गत चार अध्याय हैं। ये, समन्वय, अविरोध, साधन तथा फल है। यह आचार्य चित्सुख का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसे चित्सुखी भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन भी किया गया है किन्तु इसका प्रधान सिद्धान्त अद्वैतपरक है। चित्सुखी का प्रथम बार प्रकाशन प्रत्यगरूप की टिप्पणी के साथ हुआ था।[1] इसका हिन्दी अनुवाद उदासीनसंस्कृतविद्यालय काशी से १९५६ में हुआ था।

अभिप्राय प्रकाशिका—यह मण्डनमिश्र की ब्रह्मसिद्धि की टीका है जिसका आधार वाचस्पतिमिश्र की तत्त्वसमीक्षा कही जा सकती है। इसका सालोचन सम्पादन महामहोपाध्याय अनन्तकृष्णशास्त्री ने किया है।[2] इस टीका के साथ आनन्दपूर्ण की भावशुद्धि को भी प्रकाशित किया गया है।

भावदीपिका—इस टीका के अन्तर्गत श्रीहर्ष के द्वारा खण्डनखण्डखाद्य के अन्तर्गत अपनाई गई पद्धति का अनुसरण किया गया है। इसके प्रथम परिच्छेद का कुछ अंश संक्षेपशारीरक, चौखम्बासंस्कृतसीरिज, ४७६, १९४८ में प्राप्त हुआ है।

भावद्योतनिका—यह प्रकाशात्मा की पञ्चपादिकाविवरण की टीका है। इसका प्रकाशन पंचपादिका तथा पंचपादिका विवरण के साथ श्रीरामशास्त्री द्वारा Madras Govt. Oriental Series के अन्तर्गत किया गया है। भावद्योतनिका ही विवरण तात्पर्यदीपिका के नाम से भी प्रसिद्ध है।

भाव प्रकाशिका—भाव प्रकाशिका शङ्कराचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका है। इसके अन्तर्गत विवरण एवं भामती-प्रस्थान का समन्वय वर्तमान है। इसका प्रकाशन ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद तक चौखम्बा संस्कृत सीरिज के अन्तर्गत किया गया है।

विष्णु पुराण टिप्पणी—यह विष्णु पुराण की टीका है। यह विष्णु पुराण के पूर्व भाग के छः अध्यायों के ऊपर है। इसका अनुकरण श्रीधर स्वामी के द्वारा पूर्ण रूप से किया गया है। इसका सम्पादन टी० आर० व्यासाचार्य द्वारा किया गया है, जिसका प्रकाशन निर्णयसागर बम्बई द्वारा १९१४ में किया गया था।

---

१. इसका प्रकाशन N.S.C. के अन्तर्गत हुआ था।

२. Madras Govt. MS. Library, 1963.

वेदान्तसिद्धान्तकारिकामंजरी—इस ग्रन्थ में अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों की व्याख्या १९३ श्लोकों के अन्तर्गत की गई है। यह पाडुलिपि रूप में सुलभ है।

भावतत्त्व प्रकाशिका—यह ग्रन्थ सुरेश्वराचार्य की नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका तथा ज्ञानोत्तमरचित चन्द्रिका का सार रूप है। यह भी पाण्डुलिपि में वर्तमान है।

प्रमाणरत्नमाला—यह आनन्दबोधरचित प्रमाणरत्नमालाव्याख्या की व्याख्या है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत ब्रह्मतत्त्व की सिद्धि अनेक प्रमाणों के आधार पर की गई है।

चित्सुखाचार्य की अद्वैत वेदान्त को देन

आचार्य चित्सुख अद्वैत वेदान्त के शिरोमणि आचार्य है। यद्यपि वेदान्त-दर्शन के अद्वैतवाद सिद्धान्त का ध्वजारोहण शंकराचार्य द्वारा (७८८-८२० ई०) सर्वथा सम्पन्न कर दिया गया था, किन्तु फिर भी स्थाणुखननन्याय से अद्वैत मत का ऊहापोह शङ्कराचार्य के परवर्ती आचार्यों, जैसे सुरेश्वराचार्य, वाचस्पति मिश्र, प्रकाशात्मयति एवं अप्पयदीक्षित आदि के द्वारा यथापेक्षित रूप में किया गया था। इसी शृङ्खला के अन्तर्गत आचार्य चित्सुख भी हैं। इन्होंने अद्वैत मत के सिद्धान्तों को नैयायिकशैली में प्रस्तुत किया। इस प्रकार इनकी दार्शनिक देन के अन्तर्गत इनका शैलीगत वैशिष्ट्य विशेषरूपेण स्वीकार किया जाता है। यह समुचित होगा कि चित्सुखाचार्य की दार्शनिक देन के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व उनकी पूर्ववर्ती अद्वैत वेदान्त की स्थिति के सम्बन्ध में विचार कर लिया जाय। अतः सम्प्रति शंकराचार्य एवं अद्वैत वेदान्त के चित्सुखाचार्यपूर्ववर्ती विशेष प्रस्थानों, भामती-प्रस्थान एवं विवरण प्रस्थान के सिद्धान्त-निरूपण के सम्बन्ध में संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

शंकराचार्य की दार्शनिक देन—यह सर्वविदित है कि आचार्य शंकर अद्वैत मत के प्रमुख प्रस्थापक हैं। इन्होंने औपनिषद सिद्धान्त का प्रतिपादन अद्वैतवाद के रूप में अपने परम गुरू गौडपादाचार्य (६०० ई०) द्वारा प्रस्तुत अद्वैत-सिद्धान्त की भूमिका के आधार पर किया था। आचार्य ने अद्वैत ब्रह्म की परमार्थ सत्यता का प्रतिपादन करते हुए जगत् को माया

मात्र सिद्ध किया था।[१] ये जगत् को परमार्थतः अनुत्पन्न स्वीकार करते थे। इसीलिए गौडपादाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त "अजातवाद" के नाम से प्रख्यात है।[२] आचार्य गौडपाद ने माया को स्वप्न सदृश कहा है।[३] इतना ही नहीं, आचार्य ने मायिक जगत् के सम्बन्ध में गन्धर्व नगर, आकाशकुसुम एवं बन्ध्या पुत्र के दृष्टान्त भी प्रस्तुत किए हैं। इस प्रकार आचार्य गौडपाद अजातवाद-सम्मत अद्वैत मत के समर्थक के रूप में प्रख्यात हैं। शंकराचार्य ने इन्हें "सम्प्रदायविद्" आचार्य कहा है।[४] गौडपादाचार्य द्वारा प्रस्तुत अद्वैत-वाद की उपर्युक्त भूमिका के आधार पर ही शंकराचार्य ने अद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। प्रमुख रूप से शाङ्कर दर्शन के तीन पक्ष हैं—(१) ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन (२) जीव एवं ब्रह्म की अद्वैतता का प्रतिपादन (३) अविद्या, माया के आधार पर जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण।

शंकराचार्य ने आत्मा की नित्यता, शुद्धता, बुद्धता, मुक्तता एवं स्वभावता का निर्देश किया है।[५] ब्रह्म भाव ही मोक्ष है।[६] इस प्रकार ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार ही अद्वैत वेदान्त का चरम प्रतिपाद्य है। यद्यपि जीव मूल स्वरूप में ब्रह्म ही है—'जीवो ब्रह्मैव नापरः। अविद्योपाधि के कारण जीव का जीवत्त्व है। जब तत्वबोध होने पर अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तो जीव अपने स्वभाव अर्थात् ब्रह्मभाव का अनुभव करता है और इसी स्थिति का नाम मोक्ष है। रही जगत् की बात, यह जगत् परमार्थतः असत् हैं। सत् की परिभाषा शंकर ने 'यद्विषया बुद्धिर्न व्यभिचरति तत् सत्'[७] कहकर दी है। सत् त्रिकालाबाधित है। अतः उक्त परिभाषा के निकष-परीक्षण पर जगत् असत् सिद्ध होता है। किन्तु जगत् को सर्वथा असत् भी नहीं कहा जा सकता। इस का कारण यह है कि व्यवहार में जगत् की

---

१. मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः; गौ० का० १-१७
२. अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः गौ० का० ३-२०
३. स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता। गौ० का० १-७
४. अत्रोक्तं वेदान्तसम्प्रदायविद्भिराचार्यैः—ब्र०सू०शा०भा० २-१-६
५. कोऽसौ आत्मा किं तद् ब्रह्म, इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। ब्र०सू०शा०भा० १-१-४
६. ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था। ब्र०सू०शा०भा० ३-४-५१
७. शा०भा० गीता २-१६

स्थिति को नकारा नहीं जा सकता। जगत् की प्रत्यक्ष भौतिक स्थिति का निषेध न वेदान्त कर सकता है और न शून्यवादी बौद्धदर्शन। जगत् बुद्धिस्थ है यथा शुक्तिरजत के उदाहरण में रजत बुद्धिस्थ है। अतः जगत् का एक रूप बाह्य भौतिक स्वरूप के अतिरिक्त उसका बुद्धिस्थ रूप भी है, जो संस्कारों के आधार पर निर्मित है। अज्ञान बुद्धि से वर्तमान पुत्र, मित्र, शत्रु ममत्व-परत्व के अभिमान अज्ञानजन्य संस्कारबुद्धि के ही द्योतक हैं। इस प्रकार मायाकल्पित होने के कारण जगत् को मिथ्या माया कहा गया है। शांकर वेदान्त में जगत् के व्यावहारिक स्वरूप के ही कारण इसे आकाशकुसुम अथवा वन्ध्यापुत्र के समान सर्वथा असत नहीं कहा गया। अतएव शांकरदर्शन में माया के सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण माया एवं मायिक जगत् को अनिर्वचनीय कहा गया है। अतः यदि विचार कर देखा जाए तो वेदान्त के क्षेत्र में भाषा-शैलीगत वैशिष्ट्य एवं विशेष तर्कपद्धति, शंकराचार्य के दर्शन में अनिर्वचनीयता आदि के परिभाषण के रूप में पहले से ही वर्तमान थी,[1] जिसकी व्याख्या एवं विश्लेषण श्रीहर्ष एवं चित्सुखाचार्य के द्वारा क्रमशः खण्डनखण्डखाद्य, तत्त्वप्रदीपिका एवं अभिप्रायप्रकाशिका के अन्तर्गत निष्पन्न हुआ था। उपर्युक्त विचारदृष्टि को शांकरदर्शन की प्रधानभित्ति कहा जा सकता है। किसी भी मौलिक विचारक का उस क्षेत्र के अन्य विचारकों-दार्शनिकों से मतभेद स्वाभाविक है। यह तथ्य शंकराचार्य के विषय में भी समुचित है। इनका बौद्धों न्याय-वैशेषिकों, सांख्याचार्यों आदि से मतभेद स्वाभाविक था। अतः इन्होने श्रुति के आधार पर उपर्युक्त मतों का खण्डन किया था।

---

१. तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये नामरूपे अव्याकृते व्याचिकीर्षिते इति ब्रूमः ब्र०सू०शा०भा० १.१.५

सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्याम-निर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते। ब्र०सू०शा०भा०, २.१.१४

सदाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो,
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयाडाप्यमनङ्गाप्युभयात्मिका नो।
महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा॥

विवेकचूडामणि। १११.

इन्होंने श्रुति को अद्वैततत्त्व के प्रतिपादन में सहायकके रूप में स्वीकार किया था।[१] निदर्शनार्थ श्रुतिसम्मत होने के कारण चेतन ब्रह्म तत्त्व से ही शंकराचार्य ने जगत् की सृष्टि को स्वीकार किया है।[२] सांख्य सम्मत अचेतन प्रकृति से चेतन जगत् की सृष्टि का सिद्धान्त शङ्कराचार्य को भी स्वीकार नहीं है।[३] अतः आचार्य ने सांख्य दर्शन के प्रधानकारणवाद का खण्डन "प्रधानमल्लनिर्वहणन्याय" से ब्रह्मसूत्रभाष्य में स्पष्ट रूप से किया है।[४] इसी प्रकार श्रुति को प्रमाण न स्वीकार करने वाले विज्ञानवादी एवं शून्यवादी बौद्धों का खण्डन भी आचार्य ने सबल तर्कों के आधार पर किया है।[५] विज्ञानवादी बौद्धों का जगत् को विज्ञान मात्र एवं शून्यवादियों का शून्य कहना शङ्कराचार्य को स्वीकार नहीं हैं। इसी प्रकार आचार्य ने न्यायवैशेषिक के परमाणुकारणवाद एवं जैन स्याद्वाद[६] का निराकरण करते हुए ब्रह्म तत्त्व की परमार्थसत्यता एवं जगत् की अनिर्वचनीयता के आधार पर अद्वैतवाद की स्थापना की थी।

चित्सुखाचार्य के पूर्ववर्ती आचार्यों में मण्डनमिश्र (८००) का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अन्तर्गत अध्येतव्य अभिप्राय प्रकाशिका ब्रह्मसिद्धि की टीका ही है। मण्डन मिश्र के सिद्धान्त विशेष का विवेचन द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत किया जाएगा। अविद्या के आश्रय मोक्ष में कर्म की साधनता तथा शाब्दिक ज्ञान (Verbal knowldge) की हेतुता के सम्बन्ध में मण्डनमिश्र का मत शंकराचार्य से भिन्न था।

१. देखिए, श्रुतेस्तु तर्कमूलत्वात्। (ब्र०सू० २-१-२७) सूत्र पर शांकरभाष्य तथा 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्", आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि इति सूत्राभ्यां विवर्तदृढीकरणेनैकान्तिकाद्वयलक्षणः श्रुत्यर्थः परिशोध्यत इत्यर्थः। भामती, ब्र०सू० २/१/२७

२. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। तै०उ०— तथा ब्र०सू०शा०भा० १-४-२८

३. देखिए ब्र०सू०शा०भा० १-१-५

४. देखिए, ब्र०सू०शा०भा० १-१-५ तथा २—१-४,५,६ तथा ७,१०

५. देखिए, ब्र०सू०शा०भा० २. २.२८,२९

६. देखिए, ब्र०सू०शा०भा० २. २.३३

मण्डनमिश्र अग्रहण एवं विपर्यय ग्रहण के रूप में अविद्या के दो रूप मानते थे।[1] किन्तु शङ्कराचार्य के अनुसार अविद्या एक बीज शक्ति है।[2] मण्डनमिश्र ने जीव को अविद्या का आश्रय तथा ब्रह्म को विषय रूप में स्वीकार किया है। अग्रहण से वस्तु तत्त्व के ग्रहण न करने का आशय है, यथा शुक्ति का शुक्ति के रूप में ग्रहण न करना तथा विपर्यय का अर्थ शुक्ति के स्थान पर रजत का विपरीत ग्रहण है। शङ्कराचार्य एवं मण्डनमिश्र का यह सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जहां शंकराचार्य कर्म को मोक्ष का साधन स्वीकार नहीं करते वहां मण्डनमिश्र कर्म को मोक्ष की शीघ्र प्राप्ति में साधन स्वीकार करते हैं। मण्डन मिश्र का यह सिद्धान्त भी शङ्कराचार्य के विपरीत है कि श्रौत ज्ञान साक्षात् ज्ञान का हेतु है। जो भी हो मण्डन मिश्र को भी अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ था। जैसा कि ब्रह्मसिद्धि के तर्ककाण्ड के अन्तर्गत उन्होंने सिद्ध किया हैं मण्डन मिश्र विभिन्न विषयों में भेद का निराकरण करते हुए अभेद की प्रतिष्ठा करते हैं। इस सम्बन्ध में वे श्रुतिमत को ही प्रधानता देते हैं। उनका कथन है कि भेद वस्तुओं में नहीं है, अपितु विषयिगत है। अतएव मण्डन मिश्र अपेक्षा एवं अर्थक्रिया का भेद के आधार के रूप में खण्डन करते हैं। तथा नैयायिकों, बौद्धों एवं जैनाचार्यों के मतों का खण्डन करते हुए इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि भेद का आधार आनुमानिक एवं सौविध्यपरक है तथा श्रुतिविरोधी है।[1]

चित्सुखाचार्य के पूर्ववर्ती सम्प्रदायों में भामतीप्रस्थान एवं विवरण प्रस्थान का उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है। अतः यहां इनके सम्बन्ध में संक्षेप में निरूपण किया जा रहा है।

भामती प्रस्थान—(९५० ई०) भामती प्रस्थान के प्रमुख आचार्य वाचस्पति मिश्र है, जिन्होंने ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य पर भामती टीका लिखी

---

१. अग्रहण-विपर्ययग्रहणे द्वेऽविद्ये। ब्र०सि०पृ० १४६

२. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिः ब्र०सू०शा०भा० १.४.३

३. एषावृत्तिर्नाम तमोगुणस्य शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा।
सैषा निदानं पुरुषस्य संसृतेर्विक्षेपशक्तेः प्रसरस्य हेतुः॥

विवेकचूडामणि-पृ० ३६

है। इस टीका के आधार पर ही इसे भामतीप्रस्थान कहा जाता है। मण्डन मिश्र की तरह वाचस्पति मिश्र ने भी अपने दर्शन का श्रीगणेश जीव के स्वरूपनिरूपण के साथ किया है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार अविद्या जीवाश्रया है तथा ब्रह्म को आवृत कर लेती है। यह अविद्या प्रत्येक जीव के साथ भिन्न-भिन्न रूप में स्थित है। यद्यपि अविद्या की आवरण शक्ति का स्पष्ट उल्लेख वाचस्पति मिश्र ने भामती के अन्तर्गत ही किया है, किन्तु शङ्कराचार्य की विवेकचूडामणि के अन्तर्गत भी हमें माया की आवरण एवं विक्षेप शक्तियों का उल्लेख स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है।[1] आगे चलकर सदानन्द ने तो आवरण एवं विक्षेप शक्ति के सम्बन्ध में विशेष निरूपण प्रस्तुत किया है।[2] जहां सुरेश्वराचार्य ने आभासवाद के आधार पर अद्वैत-वाद का प्रतिपादन किया है, वहां वाचस्पतिमिश्र अवच्छेदवाद के आधार पर अद्वैतवाद की प्रतिपादना करते हैं। इनका मत है कि यद्यपि ब्रह्म अनव-च्छिन्न एवं असीम हैं, किन्तु जीव की अविद्योपाधि के कारण अवच्छिन्न एवं ससीम हो जाता। अवच्छेदवादी इस सम्बन्ध में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहता है कि जिस प्रकार आकाश घट एवं मठ आदि से अवच्छिन्न होने पर घटावच्छिन्नाकाश एवं मठावच्छिन्नाकाशरूप से सीमित हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी अविद्योपाधि के कारण सीमित जीवरूपता को प्राप्त हो जाता जाता है। जिस प्रकार घट एवं मठ के नष्ट होने पर आकाश असीमरूपता को धारण कर लेता है, उसी प्रकार अविद्योपाधि के नष्ट होने पर जीव भी ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करता है। संक्षेप में अवच्छेदवाद का यही आशय है। वाचस्पतिमिश्र का मत है कि ब्रह्मसाक्षात्कार शाब्दप्रमाण का फल नहीं है,[3] अपितु निदिध्यासन के द्वारा ही इसे प्राप्त किया जा सकता है। अतः भामतीकार निदिध्यासन को मोक्ष का साधन स्वीकार करते हैं।[4]

---

१. विक्षेपशक्ति रजसः क्रियात्मिका
यतः प्रवृतिः प्रसृता पुराणी।
रागादयोऽस्याः प्रभवन्ति नित्यं
दुःखादयो ये मनसो विकाराः १/११३, विवेकचूडामणि,

२. अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्।
वेदान्तसार, पृ० ११

३. न चैवं साक्षात्कारः शाब्दस्य प्रमाणस्य फलम्। भामती १-१-१

४. भामती, ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य। १-१-१

विवरण प्रस्थान—(१००० ई०) विवरण-प्रस्थान के प्रस्थापक आचार्य प्रकाशात्मयति हैं। जैसा कि विवरण-प्रस्थान के नाम से ही स्पष्ट है, प्रकाशात्मयति द्वारा रचित पद्मपाद की विवरण की टीका के आधार पर विवरण-प्रस्थान की स्थापना हुई हैं। भामती प्रस्थान के विपरीत विवरण प्रस्थान के अन्तर्गत प्रकाशात्मयति ने पूर्ण रूप से अद्वैत की स्थापना की है। इनका मत सुरेश्वर के मत से भिन्न है। सुरेश्वराचार्य का मत है कि जीव अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि, वह तो अविद्या का ही परिणाम है। इस प्रकार इनका कथन है कि आत्मा ही अविद्या का आश्रय है तथा यही इसका विषय भी है।[1] सुरेश्वराचार्य श्रौत ज्ञान को ब्रह्म ज्ञान का कारण स्वीकार करते हैं तथा नैष्कर्म्यसिद्धि के अन्तर्गत ये इस तथ्य का प्रतिपादन करते हैं कि मोक्ष का साधन कर्म नहीं है।[2] विवरणकार ने भी उपर्युक्त मत का अनुसरण किया है। विवरणकार प्रकाशात्मयति का प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिबिम्बवाद है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार जीव तथा ईश्वर में बिम्ब तथा प्रतिबिम्बभाव स्वीकार किया जाता है। जिस प्रकार एक ही सूर्य जल के अनेक रूपों में पृथक्-पृथक् रूप से प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक ही परमात्मा उपाधि के सम्पर्क से जीव दशा को प्राप्त करता है। इन दोनों में भेद का प्रश्न इसलिए नहीं उठता कि यथा सूर्य के बिम्ब एवं उसके अनेक प्रतिबिम्बों में भेद नही है, उसी प्रकार मूलतया ईश्वर एवं जीव में भी भेद नहीं है।

उपर्युक्त प्रतिबिम्बवाद के सम्बन्ध में इस शंका का होना स्वाभाविक है कि जब जीव और ईश्वर एक ही है तो जीव की ही तरह ईश्वर सुख-दुःख आदि का भोक्ता क्यों नहीं है। इस सम्बन्ध में यह कथन समुचित होगा कि सुख-दुःख की अनुभूति का कारण मिथ्या अभिमान जनित भ्रम है और इसी भ्रम के कारण जीव सुखादि का भोक्ता है, ईश्वर नहीं। प्रकाशात्मयति ने इस मत का प्रतिपादन अपनी विवरण टीका के अन्तर्गत किया है। विवरणकार ने नैयायिक प्रभृति विरोधी मतों का खण्डन अपनी विशेष तर्कपद्धति के आधार पर किया है। आगे चलकर इनके मिथ्यात्व के मिथ्यात्व का प्रतिपादन जैसे सिद्धान्तों का विवेचन एवं विश्लेषण आचार्य चित्सुख के द्वारा सम्पन्न हुआ था। यहां संक्षेप में भामतीप्रस्थान एवं विवरणप्रस्थान के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि से निम्न तालिका अपेक्षित है :—

---

१. "आत्मन एवास्त्वज्ञानम्"। नैष्कर्म्य सिद्धि पृ० १०७

२. नैष्कर्म्यसिद्धि, पृ० ५३

भामती प्रस्थान	विवरण प्रस्थान
१. जीवों के अनुरूप अविद्या के भी अनेक स्वरूप है।	१. अविद्या एक है किन्तु उसके अनेक परिणाम है।
२. अविद्या केवल निमित्त कारण है तथा इसमें आवरण की क्षमता है।	२. अविद्या निमित्त कारण के साथ-साथ उपादान कारण भी है तथा इसमें आवरण के साथ-साथ विक्षेप की शक्ति भी है।
३. ब्रह्म विवर्त का उपादान है।	३. ब्रह्म तथा अविद्या उपादान है।
४. मन इन्द्रिय है।	४. मन इन्द्रिय नहीं है।
५. अखण्डाकार वृत्ति का विषय अखण्ड ब्रह्म है।	५. सगुण ब्रह्म भी वृत्ति का विषय है।
६. श्रौतव्य आदि में विधि नहीं है।	६. एक प्रकार की विधि है।
७. अवच्छेदवाद स्वीकार्य है।	७. प्रतिबिम्बवाद स्वीकार्य है।

श्रीहर्ष :—यदि विचार कर दृष्टिपात किया जाए तो अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में चित्सुखाचार्य से पूर्व वेदान्त की व्याख्या पद्धति एवं तर्क की दृष्टि से खण्डनखण्डखाद्य के रचयिता श्रीहर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनकी पद्धति का प्रभाव चित्सुखाचार्य पर विशेष रूप से देखा जा सकता है। वस्तुतः न्याय वैशेषिक के उदयन जैसे उद्भट विद्वानों के द्वारा जिस तर्क पद्धति का विकास किया गया था, उसी का और अधिक विकसित स्वरूप हमें श्रीहर्ष के खण्डन खण्डखाद्य के अन्तर्गत अनिर्वचनीयवाद के रूप में देखने को मिलता है। श्रीहर्ष की पद्धति का उद्देश्य तर्कपूर्ण अद्वैत की स्थापना है। श्रीहर्ष के सम्बन्ध में यह विशेषरूपेण उल्लेखनीय है कि उन्होंने खण्डनखण्डखाद्य के अन्तर्गत अपने किसी विशेष मत की स्थापना न करते हुए विरोधी विद्वानों के मतों का खण्डन मात्र प्रस्तुत किया है। अतः उन्हें मात्र वैतण्डिक कहा जा सकता है। श्रीहर्ष ने खण्डखण्डखाद्य के अन्तर्गत अद्वैत ब्रह्म की दृष्टि से न्याय-वैशेषिक की पद्धति की समालोचना की है। खण्डनखण्डखाद्य को "अनिर्वचनीय सर्वस्व" भी कहा जाता है। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ ही वाद-विवाद के नियमों के साथ होता है। श्रीहर्ष के कथनानुसार वाद-विवाद के नियम इस प्रकार के होने चाहिएँ जो दोनों पक्षों को स्वीकार हों।[1] न्याय

---

१. उभयाभ्युपगमानुरोधित्वाच्च कथा नियमस्य, खण्डनखण्डखाद्य-१०

की परम्परा के विरुद्ध श्रीहर्ष अपनी तर्कपद्धति के अन्तर्गत प्रमाणों की अपेक्षा नहीं स्वीकार करते।[1] श्रीहर्ष के अनुसार वाद-विवाद की विजय मध्यस्थ के निर्णय के ऊपर आश्रित है। जैसा कि उनके ग्रन्थ खण्डनखण्डखाद्य से ही स्पष्ट है, वे एक महान् खाण्डनिक कहे जाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, श्रीहर्ष विशेष रूप से वितण्डाप्रिय होने के कारण वैतण्डिक ही हैं, किन्तु वाद तथा जल्प को भी अपनी खण्डनपद्धति में उन्होंने स्वीकार किया है। वाद के अन्तर्गत वादी को अपने पक्ष की स्थापना करनी होती है, तथा विरोधी पक्ष के परीक्षण के लिए खण्डन की भी अपेक्षा होती है। इसके अतिरिक्त स्वमतप्रस्थापन के लिए भी खण्डन की अपेक्षा होती है।[2] जहां तक जल्प का प्रश्न है, इसका सम्बन्ध दोनों पक्षों से है और इसके अन्तर्गत वितण्डा भी आता है।[3] न्याय दर्शन की तर्कपद्धति पर प्रहार करते हुए श्री हर्ष ने नैयायिक की अतिव्याप्ति तथा सव्यभिचारि हेतु का खण्डन किया है। जहां तक बौद्ध दर्शन के खण्डन का प्रश्न है श्रीहर्ष ने शून्यवाद तथा अनिर्वचनीय पक्ष को संयुक्त करके इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि प्रत्येक वस्तु सम्बन्धशील है तथा इसकी स्वभावशून्यता है।

श्रीहर्ष एवं भेदवाद—भेदवाद का विरोध करते हुए श्रीहर्ष अद्वैतपरक श्रुति के आधार पर अद्वैत तत्व का प्रतिपादन करते है। इनका तर्क है कि न ज्ञान और न ज्ञान एवं इसके विषय के भेद को ज्ञान का प्रत्यक्ष कहा जा सकता है, क्योंकि उदाहरणार्थ, ज्ञान से यह सिद्ध होता है कि पात्र तथा वस्त्र भिन्न हैं। किन्तु इनसे यह सिद्ध नहीं होता कि ज्ञान तथा विषय में भेद है। इस प्रकार श्रीहर्ष भेदवाद ही नहीं भेदाभेदवाद का भी निराकरण करते हैं तथा अद्वैतवाद का समर्थन करते हैं।[4]

जैसा कि आगे चलकर आचार्य चित्सुख ने किया है, श्रीहर्ष ने भी विभिन्न दर्शनों के अन्तर्गत स्वीकार्य भेदवाद के सिद्धान्त का खण्डन किया है।

---

१. प्रमाणादि···औदासीन्येन व्यवहारनियमेन समयम् बद्ध्वा, खण्डन-खण्डखाद्य-११

२. देखिए, खण्डनखण्डखाद्य, पृ०-१४०

३. उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः। तर्कभाषा, पृ०-२७०

४. एकमित्युपादाय, खण्डनखण्डखाद्य पृ० ९५

श्रीहर्ष बौद्धों के इस सिद्धान्त का भी निराकरण करते है जिसके अनुसार भेद वस्तुओं का स्वभाव है। यदि भेद वस्तुओं का स्वभाव माना जाएगा तब तो भेदीकृत विषय और इसके प्रतियोगी समान होंगे, क्योंकि प्रतियोगी के बिना जिससे कि इसे भिन्न बताया गया है, विषय को भिन्न रूप से नहीं देखा जा सकता। इसके अतिरिक्त ज्ञान के विषयों में भेदज्ञान के लिए उनका स्वरूप अत्यावश्यक है। यदि स्वरूप ज्ञान, जिस पर भेदज्ञान आधारित है, से तुलना की जाए तो भेदज्ञान को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

नैयायिक का भेदवाद सम्बन्धी सिद्धान्त अन्योऽन्याभाव है। यह सिद्धान्त श्रीहर्ष को स्वीकार नहीं है। उदाहरणार्थ यदि पात्र को पट से भिन्न कहा जाएगा तो इस अन्यत्व का प्रतियोगी पात्र एवं पट के मध्य में स्वरूपसिद्ध होगा। यदि इस स्वरूप का पूर्णतः निषेध किया जाता है तो अन्योऽन्याभाव की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त यदि यह शशशृंग के समान पूर्णतया असत् है, तब तो इसका निषेध निरर्थक ही सिद्ध होगा। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अन्योऽन्याभाव पात्र में पटत्व का निषेध करता है और पट में पात्रत्व का। इसका कारण यह है कि पात्रत्व एवं पटत्व में भेद को सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि पात्र एवं पट में पात्रत्व एवं पटत्व का कोई गुण नहीं दिखाया जा सकता। अतः, इस प्रकार दोनों में भेद की सिद्धि न होने पर स्वरूप की ही सिद्धि होती है। अतः यदि ज्ञान पटत्व एवं पात्रत्व का अभाव सिद्ध करता है तो पट एवं पात्र के अन्योऽन्याभाव के लिए प्रतियोगी का क्या आधार सिद्ध होगा।

श्रीहर्ष को वैशेषिक दर्शन का वैधर्म्य सिद्धान्त भी स्वीकार नहीं है। श्रीहर्ष का कथन है कि वैधर्म्य मानने में अनवस्था दोष आ जाएगा। इसका कारण यह है कि यदि पटत्व एवं पात्रत्व में वैधर्म्य माना जाएगा तो इस वैधर्म्य को सिद्ध करने के लिए एक और वैधर्म्य को स्वीकार करना होगा और फिर अन्यान्य वैधर्म्यों को। इस प्रकार यह अनवस्था दोष ही होगा। अतः जैसा कि "खण्डनखण्डखाद्य" के अन्तर्गत व्याख्यात हुआ है, वैशेषिक के भेद सिद्धान्त, वैधर्म्य को नहीं स्वीकार किया जा सकता।

श्रीहर्ष का प्रमासम्बन्धी विचार भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रमा तत्त्वानुभव है, इस परिभाषा की समीक्षा श्रीहर्ष ने की है।[1] ज्ञान की

---

१. तत्त्वानुभूतिः प्रमा, खण्डनखण्डखाद्य, पृ० १४५

प्रामाणिकता के सम्बन्ध में श्रीहर्ष शब्दों की व्युत्पत्ति को महत्त्व नहीं देते। उदाहरणार्थ "तत्त्व" शब्द के अर्थबोध में (तस्य भावः) में तत्त्व शब्द से तात्पर्य बोध नहीं होता। इसके विपरीत यदि तत्त्व शब्द का अर्थ ज्ञेय विषय लिया जाता है तो यह उचित नहीं है।[1] इसका कारण यह है कि ऐसी स्थिति में मिथ्या ज्ञान पर भ्रमात्मक ज्ञान और वास्तविक ज्ञान में भेद की स्थापना नहीं हो सकेगी। यदि यह कहा जाता है कि तत्त्व का अर्थ स्वरूप है तो यह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि यह कहना सम्भव नहीं है कि स्वरूपत्व जाति है अथवा उपाधि। यदि स्वरूपत्व को प्रमा के विषय में स्थित कहा जाए तो यह आत्माश्रयत्व दोष सिद्ध होगा।

डा० दास गुप्त का विचार एवं उनकी समीक्षा

डा० दास गुप्त ने श्रीहर्ष के मत की समीक्षा करते हुए कहा है कि श्रीहर्ष की समालोचना प्रायः शब्द जाल मात्र है तथा इससे परवर्ती न्याय-शास्त्र का बहुत बड़ा अहित हुआ है।[2] डा० दास गुप्त का कथन है कि श्रीहर्ष ने दार्शनिक महत्त्व के सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं की है। हमारे विचार से डा० दासगुप्त का यह कथन समुचित नहीं है। इस सम्बन्ध में यह कहना उचित ही होगा कि श्रीहर्ष से पहले भी न्यायदर्शन के आचार्यों के द्वारा यह दार्शनिक विश्लेषण किंचित् सम्पन्न हो चुका था। वस्तुतः श्रीहर्ष ने तो नवीन तर्कपद्धति के आधार पर अपने सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था। अतः यदि विचार कर देखा जाए तो श्रीहर्ष की तर्कपद्धति ने परवर्ती नैयायिकों की अध्ययन प्रक्रिया के लिए परिष्कार की एक नयी दिशा प्रदान की थी, जिसका अनुगमन गंगेश में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

श्रीहर्ष के सम्बन्ध में किये गये उपर्युक्त संक्षिप्त अनुशीलन से उस भूमिका का बोध स्पष्ट हो जाता है, जो आचार्य चित्सुख को आधार रूप में प्राप्त हुई थी।

"चित्सुखाचार्य की शास्त्रीय देन"

श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य के अन्तर्गत जिस तर्कपद्धति को प्रस्तुत किया

---

१. यस्य विषयस्य यो भावः तत् तस्य तत्त्वम्।

2. This criticism often tent to grow into verbal sphaisms and have done a great disservice to the development of later Nyāya thought.

History of Indian Philosophy Vol. II, pp. 146-147 & 124

आधार ग्रन्थ खण्डनखण्डखाद्य है, उसी प्रकार आचार्य चित्सुख की शास्त्र दृष्टि तत्वप्रदीपिका अथवा चित्सुखी के अन्तर्गत स्पष्ट हुई है। यहां यह तत्त्व भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि उनके सिद्धान्तों का प्रमुख आधार ग्रन्थ चित्सुखी है, किन्तु अभिप्राय प्रकाशिका प्रभृति टीका ग्रन्थों में भी उनके शास्त्रीय विचार स्थल-स्थल पर मौलिक रूप से प्रस्तुत हुए हैं। इस तथ्य का स्पष्टीकरण अभिप्रायप्रकाशिका के अनुशीलन से, जो इस अध्ययन का प्रमुख विषय है, स्वतः हो जाएगा।

यह कहना भी असमीचीन न होगा कि श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य के अन्तर्गत यदि वितण्डा को अपनी समीक्षा का प्रधान आधार बनाया है तो चित्सुखाचार्य की समालोचना का आधार वाद, जल्प वितण्डा तीनों ही पद्धतियां हैं। निदर्शनार्थ यदि वाद का व्यवहार चित्सुख ने अद्वैत वेदान्त के वैशद्य के लिए किया है तो वितण्डा तथा जल्प की सहायता इतर सिद्धान्तों के निराकरण के लिए ली है। इस प्रकार अद्वैत समर्थक तर्कपद्धति का विकास करके चित्सुखाचार्य ने भारतीय दर्शन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण देन प्रस्तुत की है।

इस प्रकार यदि विचार कर देखा जाए तो चित्सुखाचार्य अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में अपना एक स्वतन्त्र महत्त्व रखते हैं। इसका कारण यह है कि इन्होंने अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन स्वमतसमर्थनात्मक पद्धति से न करके निषेधात्मक पद्धति से किया है। इस दृष्टि से वे अद्वैत की प्राचीन परम्परा के विरोधी थे। आचार्य चित्सुख ने अद्वैत तत्त्व का प्रतिपदन करने के लिए न्याय आदि पद्धतियों का निराकरण किया था। चित्सुखी के द्वितीय परिच्छेद के अन्तर्गत उनके द्वारा किये गये अद्वैत-श्रुतियों के समन्वय तथा प्रतिपक्षियों के मतों के निराकरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। आचार्य चित्सुख ने कहा है कि भेदग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध उपस्थित हो जाने के कारण वेदान्त वाक्य सकल भेद शून्य अद्वैतत्त्व का बोध नहीं करा सकते।[1] उनका यह सिद्धान्त, "लक्षणप्रमाणाभ्याम् हि वस्तुसिद्धिः" का सिद्धान्त है। यद्यपि आचार्य चित्सुख ने नैयायिक के हेतुवाद का आश्रय लिया था, किन्तु उनकी तर्कपद्धति का आधार श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य पर ही आधारित था जिसके आधार पर उन्होंने अनिर्वचनीयवाद की पद्धति का आश्रय लेकर अद्वैत का समर्थन किया था।

---

१. तदेवं भेदग्राहकप्रत्यक्षादिविरोधान्नाद्वैतं प्रतिपादयितुमर्हन्ति वेदान्ताः।
चित्सुखी, पृ० २८४

यहां यह विशेषरूपेण उल्लेखनीय है कि चित्सुखाचार्य यद्यपि विशेष रूप से एक अद्वैतवादी दार्शनिक विद्वान् थे, किन्तु फिर भी वे समन्वयवादी थे। इस तथ्य का समर्थन इसी से हो जाता है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती गौड-पादाचार्य तथा शंकराचार्य के सिद्धान्तों के साथ तो समन्वय किया ही था, किन्तु साथ ही शंकर के परवर्ती प्रस्थानों, भामती एवं विवरण के सिद्धान्तों साथ अपने सिद्धान्तों का तालमेल स्थापित किया था। इस सम्बन्ध में यह तथ्य भी अवलोकनीय है कि चित्सुखाचार्य ने केवल तत्त्वप्रदीपिका की ही रचना नहीं की, अपितु अद्वैत वेदान्त की अनेक कृतियों पर भी टीकाओं का प्रणयन किया था। इतना ही नहीं, ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी मण्डनमिश्र जिनका सिद्धान्त शांकर वेदान्त से यत्किञ्चित् भिन्न था, की ब्रह्मसिद्धि पर चित्सुखाचार्य ने अभिप्राय प्रकाशिका की रचना की थी।

चित्सुखाचार्य की शैली जो पद्यात्मक एवं गद्यात्मक दोनों है, पूर्णतया विकसित एवं प्रभावोत्पादक है। पारम्परिक पद्धति में चित्सुखाचार्य किसी विषय के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष एवं सिद्धान्त पक्ष दोनों को प्रस्तुत करते हैं तथा पूर्वपक्ष के प्रत्येक पक्ष का समाधान प्रस्तुत करने में वे कदापि नहीं कतराते। एक प्रकार से दृष्टिपात किया जाए तो उनकी पद्धति शंकराचार्य जैसी ही है। शंकराचार्य के समान चित्सुखाचार्य भी विषय की प्रस्तुति सुबोध्य रूप से प्रस्तुत करते हैं। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार शंकराचार्य ने सांख्य दर्शन का विशेषरूपेण खण्डन किया है, उसी प्रकार चित्सुखाचार्य ने न्यायवैशेषिक का। इसके अतिरिक्त शंकराचार्य एवं चित्सुखी की व्याख्या पद्धति की यह समानता विशेष रूप से निर्देश योग्य है कि दोनों ही तर्क को श्रुति के समर्थक के रूप में स्वीकार करते हैं। यहां एक ओर तथ्य भी विशेष रूप से अवेक्षणीय हैं कि केवल अद्वैती आचार्यों ने ही नहीं अपितु विशिष्टाद्वैतवादी आचार्यों ने भी चित्सुखाचार्य की तर्कपद्धति का अनुसरण किया था। इस सम्बन्ध में विशिष्टाद्वैतवादी वेंकटनाथ तथा द्वैतवादी जयतीर्थ एवं व्यास तीर्थ के नामों का संकेत किया जा सकता है।

चित्सुखाचार्य की पारम्परिक दार्शनिक दृष्टि

चित्सुखाचार्य के दार्शनिक विश्लेषण में हमें उस परम्परा का विकास दृष्टिगोचर होता है जिसके अन्तर्गत विशेष उत्सवों पर विद्वान् लोग वाद-विवाद एवं शास्त्रार्थ किया करते थे। इनका उद्देश्य जहां एक ओर प्रति-पक्षियों पर विजय प्राप्त करना होता था वहां दूसरी ओर दार्शनिक ग्रन्थियों

को स्पष्ट करना तथा किसी एक सिद्धान्त एवं सम्प्रदाय की उत्कृष्टता दिखलाना भी मन्तव्य होता था। इसी उद्देश्य से कभी-कभी राजा महाराजा भी अपने दरबार में विद्वानों को आमन्त्रित करते थे। इसके अतिरिक्त कभी-कभी राजा लोग अपने धर्म के विचार के लिए भी ऐसा किया करते थे। सम्बन्ध में कनिष्क (१००-२०० ई०) तथा हर्षवर्धन (७०० ई०) के उदाहरण दिये जा सकते हैं। चतुर्थ बुद्ध परिषद् वसुमित्र के निर्देशन मे कनिष्क के काल में तथा महामोक्ष परिषद् हर्षवर्धन के काल में सम्पन्न हुई थी।[1] सामान्यतः किसी वाद-विवाद या शास्त्रार्थ के दो अभिप्राय थे, अपने सिद्धान्त की स्थापना करना तथा प्रतिवादी के लिए उसे सुस्पष्ट करना एवं दूसरा विरोधी के द्वारा आरोपित दूषणो का निराकरण करना। इन शास्त्रार्थों का निर्णय निर्णायक परीक्षण किया करते थे और निर्णय के लिए सर्वस्वीकृत नियम निश्चित होते थे तथा जो इन नियमों का उल्लंघन करता था उसे परास्त घोषित किया जाता था।[2] न्याय सूत्र के अन्तर्गत वाद, जल्प तथा बितण्डा इन तीन प्रकार के शास्त्रार्थो का उल्लेख मिलता है।[3] यहा यह कथन अपेक्षित है कि इसी दार्शनिक परम्परा के आधार पर चित्सुखाचार्य की व्याख्या पद्धति का विकास हुआ था।

आचार्य चित्सुख की तर्कपद्धति

यह पहले भी कहा जा चुका है कि आचार्य चित्सुख की "तत्वप्रदीपिका" के अन्तर्गत जिस तर्क पद्धति के दर्शन होते है वह सर्वथा नवीन नही है, अपितु उसका प्रारम्भ हमें बहुत पहले से मिलता है। डा० दास गुप्त इस पद्धति का आरम्भ बौद्ध कथा वत्थु (ई०पू० १२००) के आरम्भिक अध्यायों से मानते हैं। इसके अनन्तर पतजलि के महाभाष्य मे भी इस पद्धति का रूप देखने को मिलता है। महाभाष्यकार अपनी तर्क पद्धति के अन्तर्गत स्वयं

---

१. विशेष देखिए :
   i) A.L. Basham. THE WONDER THAT WAS INDIA p. 264
   ii) K.A. Nila Kanta Shastri. A COMPREHENSIVE HISTORY OF INDIA Vol. II p. 239
   iii) R.C. Majumdar. AN ADVANCED HISTORY OF INDIA p. 159

२. देखिए ख०ख०खा० पृ० ४४, ४५, ६२

३. तिस्रः कथाः भवन्ति, न्यायसूत्र १-२-१

ही समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं तथा उनका समाधान भी देते हैं।' किन्तु इस पद्धति का निश्चित स्वरूप बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन की माध्यमिक कारिका के अन्तर्गत प्राप्त होता है। इसके पश्चात् वात्स्यायन, उद्योतकर तथा उदयन आदि न्याय वैशेषिक दर्शन के आचार्यों के द्वारा भी इस तर्क पद्धति का व्यवहार देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त गौडपाद (६०० ई०), शंकराचार्य (७८८-८२० ई०) मण्डनमिश्र (८०० ई०) की कृतियों में भी इस तर्क विद्या के दर्शन होते हैं। इसके पश्चात् सुरेश्वराचार्य, सर्वज्ञात्म-मुनि प्रकाशात्मा तथा विमुक्तात्मा (९००-११०० ई०) की कृतियों-क्रमशः, नैष्कर्म्य सिद्धि, संक्षेप शारीरक, पंचपादिका विवरण तथा इष्ट सिद्धि के अन्तर्गत भी अद्वैत मत की स्थापना के लिए वेदान्तिक तर्क पद्धति का प्रयोग किया गया है। इसी तर्क पद्धति का आगे चलकर विकास श्रीहर्ष (१२०० ई०) के खण्डन खण्डखाद्य के अन्तर्गत मिलता है।

शंकराचार्य ने भी नागार्जुन के तर्क पद्धति का किंचित् आश्रय लेकर न्याय तथा बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन किया था। इसके पश्चात् जैसा कि कहा जा चुका है, श्रीहर्ष ने 'खण्डन खण्डखाद्य" के अन्तर्गत अनिर्वचनीयवाद की तर्क पद्धति का विकास किया था जो तर्क पद्धति आगे चलकर चित्सुखाचार्य की विशेष मूलाधार सिद्ध हुई थी। फलतः आचार्य चित्सुख ने 'तत्त्व प्रदीपिका" के अन्तर्गत जगत् की दृश्यात्मक सत्ता की व्याख्या करने के लिए अनिर्वचनीयता पद्धति का विशेष आश्रय लिया था।

आचार्य चित्सुख की तर्क पद्धति संवादात्मक है। उनकी "तत्त्वप्रदीपिका" के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे मानों अध्येता शास्त्रार्थ होता देख रहा हो। आचार्य की पद्धति की यह विशेषता है कि वे अपने विरोधी के लिए भी अपमानजनक भाषा का व्यवहार नहीं करते। यह वैशिष्ट्य उनकी दार्शनिक संस्कृति एवं शालीनता की द्योतक है। यद्यपि वे प्रतिपक्षियों के सिद्धान्तों का बड़े बलपूर्वक खण्डन करते हैं, किन्तु उनका उद्देश्य

---

१. अथ गौरित्यत्र कः शब्द ? किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुद-खुरविषाण्यर्थ-रूपं स शब्दः ? नेत्याह। द्रव्यं नाम तत्। यत्तर्हि तदिदित निमिषितं स शब्दः ? नेत्याह। क्रिया नाम सा यत्तर्हि तच्छुक्लो नीलः कृष्णः कपिलः कपोत इति स शब्दः। नेत्याह। गुणो नाम सः। यत्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वछिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः ? नेत्याह। आकृति र्नाम सा। महाभाष्य, पृ०-३

सिद्धान्त विशेष अद्वैत का अनुमोदन होता है। ब्रह्म तत्त्व के प्रतिपादन में हेतु रूप तर्क एवं प्रमाणान्तरों से आचार्य चित्सुख का कोई विरोध नहीं है। इनकी साधनता आचार्य को सर्वथा स्वीकार है। इस सम्बन्ध मे आचार्य चित्सुख शकराचार्य के अनुसर्ता प्रतीत होते है।[1]

श्रीहर्ष की तरह चित्सुखाचार्य भी शास्त्रार्थ के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों को स्वीकार करते थे उदाहणार्थ—

१. शास्त्रार्थ को आरम्भ करने से पूर्व कतिपय सामान्य सिद्धान्तों का अनुसरण करना चाहिए।[2]
२. ऐसा पक्ष जो वादियों तथा निर्णायकों द्वारा स्वीकार किया गया है, आगामी तर्क का आधार स्वीकार किया जाना चाहिए।
३. शास्त्रार्थ के विवेचन के विषय का आधार दोनों पक्षों को स्वीकार होना चाहिए। इसके अतिरिक्त निर्णायकों का निर्णय प्रामाणिक मानना चाहिए।
४. अद्वैतवादी अपने शास्त्र का आरम्भ सामान्य दृष्टिकोण के आधार पर करते हैं।[3]

आचार्य चित्सुख के तर्क का आधार नैयायिक का हेतुवाद है। आचार्य चित्सुख ने केवल व्यतिरेकी, केवलान्वयी तथा अन्वय व्यतिरेकी इन तीनों हेतुओं का प्रयोग किया है, किन्तु विशेषरूपेण उन्होंने केवल व्यतिरेकी तथा केवलान्वयी का ही आश्रय लिया है।

चित्सुखाचार्य की व्याख्यान पद्धति की यह विशेषता भी उल्लेखनीय है कि प्राय: वे किसी सिद्धान्त के विवेचन के आरम्भ में उस सिद्धान्त के पूर्वाचार्यों के अनुसार परिभाषा प्रस्तुत करते हैं, तत्पश्चात् अपनी परिभाषा प्रस्तुत करते हैं। इस सम्बन्ध में उनकी पद्धति आनन्दबोध के समान प्रतीत होती है। चित्सुखाचार्य पर आनन्द बोध का प्रभाव कहना भी अनुचित नहीं होगा। आचार्य चित्सुख ने आनन्द बोध की कृतियों न्यायमकरन्द तथा प्रमाणरत्नमाला पर टीका ही नहीं लिखी थी अपितु कतिपय सिद्धान्तों के

---

१. 'परिनिष्पन्ने च वस्तुनि प्रमाणान्तराणाम् अस्ति अवकाश:"
ब्र०सू०शा०भा० २-१-१४
२. तत्त्वप्रदीपिका, पृ०-४०१
३. देखिए तत्त्वप्रदीपिका, पृ० ७१, ७३, ११६

सम्बन्ध में आनन्दबोध से उनकी समानता भी देखी जा सकती है। इस सम्बन्ध में उदाहरणार्थ अविद्या के आश्रय विषयक सिद्धान्त का निर्देश किया जा सकता है।

चित्सुख द्वारा किये गए अनेक दार्शनिक पद्धतियों के खण्डन में न्याय वैशेषिक विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। इस विषय में आचार्य चित्सुख ने उदयन श्री वल्लभ तथा वादिवागीश्वर के मतों का खण्डन प्रायः किया है। इस सम्बन्ध में वे भासर्वज्ञ के समीप प्रतीत होते हैं। चित्सुखाचार्य की तर्क विद्या की समीक्षा करते समय यह तथ्य भी निर्देश योग्य हैं कि इन्होंने न्याय दर्शन के पंचावयवों का महत्त्व न स्वीकार करके व्याप्ति तथा पक्षधर्मता को महत्त्व देते हुए उदाहरण तथा उपनय की महत्ता को स्वीकार किया है। न्याय वैशेषिक के अतिरिक्त चित्सुखाचार्य ने मीमांसकों कुमारिल, प्रभाकर, शालिक नाथ तथा भावनाथ के मतों का तथा दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति और सांख्य दर्शन के ख्याति तथा मोक्ष विषयक सिद्धान्तों का खण्डन किया है। चित्सुखाचार्य ने ऐसे विद्वानों एवं कृतियों का भी उल्लेख किया है जो अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस सम्बन्ध में तिमिरारि तथा न्याय कल्पतरू का निर्देश किया जा सकता है।[1]

ऊपर चित्सुखाचार्य की तर्क विद्या का तलस्पर्शी ज्ञान का दिग्दर्शन प्रस्तुत किया गया है। इस स्थल पर उनके तर्क विद्या से पुष्ट दार्शनिक सिद्धान्त का संक्षिप्त निर्देश भी अपेक्षित है। आचार्य चित्सुख ने आत्मा के स्वप्रकाशत्व की सिद्धि की है।[2] अविधा को आचार्य चित्सुख अभाव रूप न मानकर भावरूप मानते हैं। इसी प्रकार उनके अनुसार अन्धकार तमस् भी प्रकाशाभावरूप न होकर भावरूप है। उनका यह विचार अभाववादी नैयायिक के विपरीत है। तत्त्वप्रदीपिकाकार अविद्या को अनादि अनिर्वचनीय मानते हैं। अबिद्या अनिर्वचनीय इसलिए है कि न वह सत् है, न असत् और न सदसत्।[3] तत्त्वमसि के द्वारा आचार्य चित्सुख जीव तथा ब्रह्म के अखण्डार्थ के बोध का प्रतिपादन करते हैं।

---

१. तैलङ्ग ने तत्त्वप्रदीपिका में वर्णित विद्वानों के नामों का संकलन किया है। देखिए, तैलङ्ग (Introduction to Mahā Vidyā Vidambanam) page :

२. देखिए तत्त्वप्रदीपिका, पृ०-१६

३. -वही-, पृ-१३६

नैयायिक के विरुद्ध चित्सुखाचार्य ने स्वत: प्रामाण्यवाद का समर्थन किया है। वेदों के सम्बन्ध में आचार्य चित्सुख ने उनके अपौरुषेयत्व का समर्थन किया है। जगत् कारणता के सम्बन्ध में चित्सुखाचार्य ब्रह्म को जगत् का कारण मानते हैं। किन्तु अपरिणामी है। अधिष्ठान रूप ब्रह्म से अविद्या के द्वारा जगत् की सृष्टि चित्सुख द्वारा स्वीकार की गई है। मण्डन मिश्र की तरह आचार्य चित्सुख ज्ञान कर्म समुच्चयवादी हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार कर्म ज्ञान का साधन है तथा ज्ञान मोक्ष का। किन्तु यह सिद्धान्त शंकराचार्य को स्वीकार नहीं है। आनन्द आत्मा का स्वभाव है। साक्षी को आचार्य चित्सुख शुद्ध चेतन तथा प्रत्यक्ष स्वरूप मानते हैं। साक्षी जीव से भिन्न नहीं है। शुद्ध चैतन्य ही जब सुख दु:खादि का अनुभव करता है तो साक्षी कहलाता है। अद्वैत वेदान्त का चरम प्रतिपाद्य मोक्ष है। मोक्ष को आचार्य ने अविद्या निवृत्ति स्वरूप कहा है। इस विषय में आचार्य चित्सुख, आचार्य शंकर तथा आचार्य सुरेश्वर के अनुसर्ता हैं। वे जीवन मुक्ति को भी स्वीकार करते हैं। जीवन मुक्ति के अनुसार तत्वज्ञानी मुक्त पुरुष इस संसार में रहते हुए ही ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, किन्तु ब्रह्म साक्षात्कार होने पर भी जीवन मुक्त को शरीर का भान बना रहता है। इस सम्बन्ध में शंकराचार्य के विपरीत आचार्य चित्सुख ब्रह्म साक्षात्कार की स्थिति में अविद्या लेश को स्वीकार करते हैं।[1] इस प्रकार चित्सुखाचार्य ने पूर्व वर्णित तर्कविद्या का आश्रय लेकर अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों को अपनी विलक्षण प्रतिभा शक्ति के आधार पर समन्वित रूप से प्रस्तुत किया है। संक्षेप में आचार्य चित्सुख की अद्वैत वेदान्त को यही प्रमुख देन है।

अभिप्रायप्रकाशिका का वर्ण्य विषय

अभिप्रायप्रकाशिका के अन्तर्गत आचार्य चित्सुख ने मण्डनमिश्र की ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत निरुपित सिद्धान्तों के अभिप्राय को विशद करने का सफल प्रयत्न किया है। इस प्रकार मूलत: अभिप्राय प्रकाशिका का आधार ब्रह्मसिद्धि ही है। आनन्दपूर्ण मुनि की भाव शुद्धि के समान चित्सुख मुनि की अभिप्राय प्रकाशिका भी प्राय: ब्रह्मसिद्धि की प्रत्येक कारिका की व्याख्या नहीं प्रस्तुत करती। किन्तु फिर भी प्रमुख सिद्धान्तों के विशदीकरण में अभिप्राय प्रकाशिका का योगदान प्राय: देखा जाता है। इस सम्बन्ध में

१. अविद्यालेशस्य इव संस्कारशब्दोक्तावात्।
तत्त्वप्रदीपिका, पृ० १७४

अखण्ड स्वरूप ब्रह्म तत्व के प्रतिपादन का उल्लेख किया जा सकता है। आचार्य मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि की प्रथम कारिका के अन्तर्गत ही ब्रह्म तत्व का निरूपण करते हुए कहा है—

आनन्दमेकममृतमजम् विज्ञानमक्षरम्
असर्वं सर्वमभयं नमस्यामः प्रजापतिम् ।।[1]

इस स्थल पर अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने ब्रह्म तत्व को स्पष्ट करते हुए उसे बौद्धों के विज्ञानवाद विपरीत तथा स्वसम्वेद्य स्वरूप कहा है एवं उसकी स्वप्रकाशात्मकता का प्रतिपादन किया है। ब्रह्म साक्षात्कार के सम्बन्ध में अभिप्राय प्रकाशिकाकार श्रुति। शाब्द परोक्षापरोक्षवाद में विरोध न स्वीकार करते हुए मनन एवं अनुमान से साक्षात्कार को स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत ब्रह्म की आनन्द-स्वरूपता उसकी चिद्रुपता तथा संविद्रूपता के सम्बन्ध में अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत प्रकाश डाला गया है। ब्रह्मदत्त के भाबाद्वैतवाद और उसके खण्डन की समीक्षा भी अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने की है।

अविद्या अद्वैत वेदान्त का महत्त्वपूर्ण विषय है। इसके बिना वेदान्त का प्रासाद पूर्णतया दृढ़ नहीं होता। अतः अविद्या के स्वरूप जीवाश्रयत्व तथा अविद्या निवृत्ति एवं मोक्ष के सम्बन्ध में भी अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत गम्भीर रूप से विचार निष्पन्न हुआ है। ज्ञानकर्म समुच्चयवाद के अनुसार कर्म से ज्ञान एवं ज्ञान से मोक्ष के सिद्धान्त की सिद्धि बतलाई गई है। इस सम्बन्ध में अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने ब्रह्म सिद्धि के ज्ञानकर्म समुच्चयवाद के सिद्धान्त को स्वीकार न करके ज्ञान से ही मोक्ष की सिद्धि का प्रतिपादन किया है। इस सम्बन्ध में आचार्य चित्सुख शांकर सिद्धान्त के अनुयायी हैं।

प्रमाण सम्बन्धी सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है। अतः अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने भी ब्रह्मसिद्धि में निरूपित प्रमाणवाद को सुदृढ़ युक्तियों से स्पष्ट किया है। ज्ञान के सम्बन्ध में अभिप्राय प्रकाशिकार ने प्रत्यक्ष प्रमाण का आगम द्वारा बाध प्रस्तुत करके स्वतः प्रामाण्यवाद का समर्थन किया है। अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत कर्म विधि एवं वेदान्त का अविरोध निरूपित किया गया है। आचार्य चित्सुख अनेकान्तवाद का निराकरण प्रस्तुत करते हैं। ब्रह्मसिद्धि के नियोग काण्ड के अन्तर्गत वर्णित नियोग के स्वरूप को भी अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत विशद किया गया

१. ब्रह्मसिद्धि १.१

है। क्रिया के सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट के मत तथा कार्यप्रवृत्तिविषयक प्रभाकर के मत का जो पूर्व पक्ष स्वरुप है, अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने खण्डन किया है। अभिप्राय प्रकाशिकाकार के द्वारा ज्ञान कर्म समुच्यवाद का खण्डन किया गया है। मोक्ष के सम्बन्ध में अभिप्राय प्रकाशिकाकार श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से तत्व साक्षात्कार की उपलब्धि का समर्थन करते हैं।

वेदान्त दर्शन में जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन एक प्रहेलिका सी प्रतीत होती है। इसका कारण यह है कि वेदान्त के आचार्यों ने एक ओर जगत् को मिथ्या कहा है तथा दूसरी ओर उसकी व्यवहारिकता का प्रतिपादन भी किया है। आचार्य शंकर ने अविद्या से सृष्ट जगत् को अनिर्वचनीय कहा है। इसी प्रकार अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने अनिर्वचनीयता के आधार पर जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण किया है। ब्रह्म सिद्धि के आधार पर ही अभिप्राय प्रकाशिका में जीवन मुक्त के स्वरूप का निरूपण भी किया गया है। जब तत्वज्ञानी तत्वज्ञान होने पर भी प्रारब्ध कर्म का भोग पूर्ण न होने पर जीव का शरीर पात हो जाता है तो यह विदेह मुक्ति की स्थिति के कारण इस संसार में जीवन यापन करता है तो उसे जीवन् मुक्त कहते हैं और जब प्रारब्ध कर्म का भोग पूर्ण होने का कहलाती है। अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत अखण्ड ब्रह्म के अनौप निषदत्व पक्ष का निराकरण करते हुए ब्रह्म तत्त्व को उपनिषद् सिद्ध कहा गया है। अभिप्राय प्रकाशिका के अनुसार ब्रह्म माया शक्ति से सम्पन्न होने के कारण मायी है। सिद्धिकाण्ड के अन्तर्गत साधक एवं ब्रह्म तत्त्व की सिद्धि का निरूपण भी अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत वर्तमान है। सत्ता त्रैविध्यवाद-असत्कार्यवाद, सत्कार्यवाद एवं विवर्तवाद का निरूपण भी अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत सूक्ष्मेक्षिकया सम्पन्न हुआ। इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत वर्तमान वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों को पारम्परिक एवं कहीं-कहीं स्वतन्त्र दृष्टि से विशद किया है।

अभिप्राय प्रकाशिका का अध्ययन-सम्पादन

Government Oriental Manuscripts Library, Madras, ने १९६३ में अभिप्राय प्रकाशिका को प्रकाशित किया था। इसका सम्पादन महामहोध्याय एन. एस. अनन्त कृष्ण शास्त्री जो संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी में मानद आचार्य थे, आनन्दपूर्ण मुनि की भाव शुद्धि के साथ किया था। इस सम्पादन में अभिप्राय प्रकाशिका के आधार ग्रन्थ ब्रह्मसिद्धि का पाठ, जिसके अन्तर्गत कारिका और उसका गद्य भाग आता है को भी

प्रस्तुत किया गया है श्री शास्त्री जी ने अभिप्राय प्रकाशिका की एक ही पाण्डुलिपि के आधार पर अभिप्राय प्रकाशिका का सम्पादन किया है।[1]

प्रस्तुत अध्ययन की विशेषताएँ

अभिप्राय प्रकाशिका के प्रस्तुत अध्ययन में इस टीका का आलोचनात्मक एवं विवेचनात अनुशीलन हुआ है। इसके साथ ही यह पक्ष भी उल्लेखनीय है कि किसी भी आचार्य, मनीषी एवं विद्वान के मूल में किसी न किसी प्रकार की भूमिका अवश्य वर्तमान होती है। अतएव इस अध्ययन के अन्तर्गत चित्सुखाचार्य की अभिप्राय प्रकाशिका का अनुशीलन आरम्भ करने से पूर्व उन की वेदान्तिक दृष्टि की भूमिका के अनुशीलन का प्रयास भी सम्मिलित है। इस सम्बन्ध में उनके पूर्ववर्ती वेदान्त के आचार्यों जिनमें विशेषरुपेण गौडपाटाचार्य, शंकराचार्य, मण्डनमिश्र वाचस्पति मिश्र, प्रकाशात्मयति तथा "खण्डनखण्डखाद्य" के लेखक श्रीहर्ष आते हैं, के सिद्धान्त पक्ष का निरूपण भी प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत अपेक्षित समझकर किया गया है। यह कहने की अपेक्षा नहीं है कि वेदान्त दर्शन के इन आचार्यों के सिद्धान्ताबोध से आचार्य चित्सुख के दार्शनिक पथ का एक दिग्दर्शन मिलता है। इन आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों की ओ इंगित करने के पश्चात् आचार्य चित्सुख की विशेषतः "तत्वप्रदीपिका" पर आधारित देन को निरूपित करना भी इस अध्ययन का प्रयोजन है। इससे भी अभिप्राय प्रकाशिका के अनुशीलन में साहाय्य मिलेगा, ऐसा निस्सन्देह कहा जा सकता हैं।

इस अध्ययन के अन्तर्गत ब्रह्मसिद्धि के वे प्रमुख सिद्धान्त गृहीत हैं जो अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत विशेषरूपेण सुस्पष्ट हुए हैं। इस प्रकार समन्वयात्मिका दृष्टि से अभिप्राय प्रकाशिका के आधार पर अद्वैत वेदान्त के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों-ब्रह्म-जीव, जगत् कर्म अविद्या, ज्ञान एवं मोक्ष का निरूपण यथोपेक्षित तुलनात्मक दृष्टि से निष्पाद्य है। इसके अतिरिक्त प्रमाण निरूपण, कर्म एवं ज्ञान, श्रवणादि तथा तत्वसाक्षात्कार, सत्ता त्रैविध्यवाद एवं अनिर्वचनीयवाद आदि प्रमुख विषयों का निरूपण भी इस अध्ययन के अन्तर्गत आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक दृष्टि से वर्तमान है।

---

1. M.M. Ananta Krishna Sastri, Introductions, Brahmasiddhi, p. 22

ब्रह्मसिद्धि पर आधारित अभिप्राय के अन्तर्गत वर्तमान सिद्धान्तों की व्याख्या तथा वैशदय के लिए अद्वैत वेदान्त के इतर मूल ग्रन्थों तथा अंग्रेजी एवं हिन्दी के आलोचनात्मक ग्रन्थों तथा इतिहास ग्रन्थों का आश्रय भी इस अध्ययन में लिया गया है। इससे प्रस्तुत अनुशीलन में वैज्ञानिकता का समावेश स्वभाविक है। संक्षेप में यही इस अध्ययन की विशेषताएं कही जा सकती हैं।

इस प्रकार के ग्रन्थों में गौडपादकारिका ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, भामती और अद्वैत सिद्धि, तत्वप्रदीपिका (चित्सुखी), खण्डनखण्डखाद्य एवं वेदान्तसार आदि मूल ग्रन्थों का निदर्शनार्थ संकेत किया जा सकता है इस प्रकार के ग्रन्थों से अभिप्राय प्रकाशिका के तात्पर्य बोध में पर्याप्त सहायता मिली है। इसके साथ ही अंग्रेजी के आलोचनात्मक ग्रन्थों में प्रोफेसर वी. आँजनेय शर्मा के ग्रन्थ Citsukha's Contribution to Advaita तथा, बाल सुब्रमनियन के महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'A Study of Brahmasiddhi', से भी अभिप्राय प्रकाशिका के तात्पर्यानुशीलन में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है। हिन्दी में लिखे गये ग्रन्थों में श्री किशोर दास स्वामी रचित "भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा", प्रोफेसर वाचस्पति उपाध्याय प्रणीत 'मीमांसा-दर्शनविमर्श एवं प्रोफेसर राममूर्ति शर्मा के ग्रन्थों-शंकराचार्य, अद्वैत वेदान्त आदि से भी लेखिका को वेदान्त के विविध सिद्धान्तों के आशय ग्रहण में पर्याप्त सहायता मिली है। इसी प्रकार अंग्रेजी एवं हिन्दी के भारतीय दर्शन के इतिहास ग्रन्थों का अनुशीलन भी वेदान्त के सिद्धान्तों को समझने में बहुत कुछ उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस प्रकार के ग्रन्थों में डा० दासगुप्त का ग्रन्थ 'History of Indian Philosophy' डा० राधाकृष्णनन का ग्रन्थ 'A History of Indian Philosophy' डा० उमेश मिश्र लिखित "भारतीय दर्शन" तथा पण्डित बलदेव उपाध्याय लिखित "भारतीय दर्शन" का विशेष रुप से उल्लेख किया जा सकता है। इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जहां शांकर भाष्य आदि मूल ग्रन्थों के अध्ययन से वेदान्त के मूल सिद्धान्तों को समझने में सहायता मिली है वहां अंग्रेजी एवं हिन्दी के आलोचनात्मक ग्रन्थों तथा इतिहास ग्रन्थों से भी वेदान्त के सिद्धान्तों के आलोचनात्मक अध्ययन में पर्याप्त सहायता मिली है इन ऐतिहासिक ग्रन्थों में यद्यपि शास्त्रीयता तो बहुत नहीं है किन्तु वेदान्त सिद्धान्तों का सुस्पष्ट विवेचन अवश्य मिलता है।

द्वितीय अध्याय

ब्रह्मसिद्धि का ब्रह्मकाण्ड एवं अभिप्राय-प्रकाशिका

(क) अभिप्रायप्रकाशिका (टीका) का आधार ब्रह्मसिद्धि और उसका सिद्धान्त

ब्रह्मसिद्धि अद्वैत सम्प्रदाय का एक महनीय ग्रन्थ है। यद्यपि ब्रह्मसिद्धि के सिद्धान्त पक्ष का आधार बहुत कुछ शांकर सिद्धान्त ही है, किन्तु फिर भी ज्ञानकर्म-समुच्चयवाद प्रभृति मण्डनमिश्र के सिद्धान्त शांकर सिद्धान्त से भिन्न हैं। यहां अभिप्राय प्रकाशिका की आधार भूमि ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत प्रतिपाद्य वर्णित एवं निर्दिष्ट सिद्धान्तों का निरूपण अपेक्षित है।

ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत ब्रह्मकाण्ड, तर्ककाण्ड, नियोग काण्ड एवं सिद्धि-काण्ड ये चार काण्ड हैं। प्रथम काण्ड ब्रह्मकाण्ड के अन्तर्गत सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा अद्वितीय एवं सर्वाधिष्ठान स्वरुप तथा निष्प्रपंच स्वरुप से की गई है। जैसा कि निम्नलिखित प्रथम कारिका से ही स्पष्ट है।

आनन्दमेकममृतमजम् विज्ञानमक्षरम्
असर्वं सर्वमभयम् नमस्यामः प्रजापतिम् ॥[1]

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रह्म तत्त्व बौद्धों का शून्य न होकर विज्ञान एवं सत् स्वरूप है। द्वितीय "तर्ककाण्ड" में मण्डन मिश्र ने ब्रह्म में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण का विरोध होने के कारण वेदान्त सिद्धान्तों की अप्रमाणिकता होने से ब्रह्मसिद्धि के सम्बन्ध में शका का खण्डन प्रस्तुत करते हुए ब्रह्मसिद्धि का प्रतिपादन किया है। तृतीय "नियोग काण्ड" के अन्तर्गत वेदान्त सिद्धान्तों की प्रामाणिकता होने पर ये सिद्धान्त प्रतिपत्तिविधि

१. ब्र० सि० १-१

(क्रिया विधि) विषयेता से ही ब्रह्म तत्त्व के बोधक है साक्षात् परमार्थ ब्रह्म के बोधक नहीं, पर इस प्रभाकर मत का खण्डन करते हुए मण्डनमिश्र ने वेदान्त सिद्धान्तों के आधार पर ब्रह्म तत्त्व की पुष्टि की है। चतुर्थ काण्ड सिद्धि काण्ड है। इस काण्ड में मण्डन मिश्र ने भर्तृमित्र के सिद्धान्त के अनुसार वेदान्त सिद्धान्तों की अप्रामाणिकता की शंका का निरसन करते हुए वेदान्त के सिद्धान्त पक्ष को प्रस्तुत किया है। संक्षेप में यह वेदान्त सिद्धान्त चतुःसूत्री ही ब्रह्म सिद्धि द्वारा निर्मित वेदान्त प्रासाद सिद्धान्त की आधार भूमि कही जा सकती है। निम्नस्थल पर ब्रह्म सिद्ध्यन्तवर्ती सिद्धान्तों का किंचित् विस्तार से निरूपण अपेक्षित है। उपनिषदों एवं शंकराचार्य के द्वारा ब्रह्म की ज्ञानस्वरुपता का प्रतिपादन सम्पक् रुप से किया गया है, किन्तु ब्रह्मसिद्धिकार ने ब्रह्म की ज्ञानस्वरूपता तथा ज्ञेयत्व में अविरोध को स्वीकार किया है। ग्रन्थकार ने ज्ञानरूप ब्रह्म की विजेयता को वृत्ति-व्याप्यता मात्र से स्वीकार किया है। घटादि के समान फल व्याप्यता से नहीं। ब्रह्मसिद्धकार ने विवरण एवं भामती प्रस्थान के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है कि इन दोनों के अनुसार भी ब्रह्म के सम्बन्ध में वृत्ति व्याप्यता ही स्वीकार है घटादि के समान फल व्याप्यता नहीं। आनन्दस्वरूप ब्रह्म के सम्बन्ध में ब्रह्मसिद्धिकार ब्रह्मदत्त आदि के भावाद्वैत का खण्डन करते हैं। यही मत तत्त्वप्रदीपिकाकार आचार्य चित्सुख का भी है। इस सम्बन्ध में मण्डनमिश्र का मत शंकराचार्य के मत से भिन्न नहीं है। यदि देखा जाए तो अध्यारोप एवं अपवाद न्याय के द्वारा वस्तु तत्त्व का निर्णय मण्डन मिश्र एवं शंकराचार्य दोनों का ही लक्ष्य है। यद्यपि ब्रह्मसिद्धि का सिद्धान्त अद्वैतवाद है किन्तु कल्पित अथवा व्यावहारिक भेद से सांसारिक भोग व्यवहार की व्यवस्था ब्रह्मसिद्धिकार ने स्पष्टरूपेण की है। मण्डनमिश्र के काल भी गौडपादाचार्य का मत बौद्ध मत से प्रभावित नहीं समझा जाता था इसीलिए ब्रह्मसिद्धिकार ने स्थान-स्थान पर बौद्ध मत का खण्डन किया है।

वेदान्त दर्शन के प्रमुख तत्त्व अविद्या के सम्बन्ध में स्पष्ट दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए कहा है अविद्या न ब्रह्म का स्वभाव है न अर्थान्तर और न असत्त्व। अविद्या केवल एक अनिर्वचनीय तत्त्व है। ब्रह्मसिद्धिकार का कथन है कि विद्या के द्वारा अविद्या की निवृत्ति होती है यह सिद्धान्त सर्वथा दोषरहित है। यहाँ एक विशेष रूप से निर्देश योग्य है कि यद्यपि विद्या ब्रह्म का स्वभाव है यद्यपि वह अज्ञान का निवर्तक है किन्तु ब्रह्म की अज्ञान

निवर्तकता उसके स्वभाव के कारण नहीं है अपितु वह अभ्यास के कारण है—भगवान् शंकराचार्य ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

"तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते, तद्विवेकेन च वस्तु-स्वरूपावधारणं विद्यामाहुः"

इस प्रकार ब्रह्मसिद्धिकार इस सम्बन्ध में शंकराचार्य के ही सर्वथा अनुसर्ता है। जहां तक ज्ञान एवं कर्म सम्बन्धी सिद्धान्त के विचार का प्रश्न है, मण्डनमिश्र ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत मोक्ष के लिए कर्म की उपादेयता स्वीकार करते हैं इसीलिए उनका सिद्धान्त ज्ञानकर्मसमुच्चय के नाम से प्रख्यात है। ब्रह्मसिद्धिकार के अनुसार अश्व दृष्टान्त[1] के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि कर्म के सद्भाव से मोक्षोपलब्धि शीघ्रता से हो जाती है। इस प्रकार ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत शंकराचार्य के कर्मवाद सिद्धान्त का उपबृंहण किया गया है खण्डन नहीं। इस सम्बन्ध में कुप्पुस्वामी शास्त्री अश्व दृष्टान्त के आधार पर मण्डनमिश्र और शंकराचार्य के मत में विरोध स्वीकार करते हुए कहते हैं कि लाङ्गलकर्षण मे अश्व युक्त नहीं होता अपितु रथ के ले जाने में हो उसकी युक्तता है। इसी प्रकार आश्रम कर्म भी मोक्षरूप फल की सिद्धि में अपेक्षित नही है अपितु फल की उत्पत्ति में अपेक्षित है यही शांकरभाष्य और ब्रह्मसिद्धि के सिद्धान्त का विरोध है।[2] स्थित प्रज्ञ के सम्बन्ध मे ब्रह्म सिद्धिकार एक नवीन दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि स्थित प्रज्ञ की साधकता का यह सिद्धान्त जीवन मुक्ति सिद्धान्त का अनगींकार करने पर ही माना जा सकता है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि कुछ विद्वान जीवन मुक्ति को स्वीकार करते हैं किन्तु अन्य नहीं। यद्यपि श्रीमद्भगवदगीता आदि में स्थित प्रज्ञ को जीवन मुक्त रूप में ही चित्रित किया गया है किन्तु ब्रह्म-सिद्धिकार का कथन है कि स्थित प्रज्ञ की समस्त रूप से अविद्या की निवृत्ति नहीं होती किन्तु वह उसकी साधक रूप में एक अवस्था विशेष होती

१. अश्वदृष्टान्त, ब्र०सि०, पृ० ३७

२. शास्त्रिपादास्तु वदन्ति "अश्ववदिति" दृष्टान्ते मण्डन-भगवत्पादयो-विरोधः—अश्ववदिति योग्यतानिदर्शनम्—यथा च योग्यतावशेनाश्वो न लाङ्गलाकर्षण युज्यते, रथचर्यायां तु युज्यते "एवमाश्रमकर्माणि फलसिद्धौ नापेक्ष्यन्ते, उत्पत्तौ चापेक्ष्यन्त इति" भाष्यविरूद्धात्र ब्रह्मसिद्धिरिति॥

ब्र०सि०, पृ० १३

है।[1] ब्रह्मसिद्धिकार स्वीकार करते हैं कि प्रारब्ध कर्मों के भोगों के बिना पूर्णतया मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

जहां तक अविद्या के आश्रयत्व की बात है अविद्या का जीव आश्रयत्व एवं ईश्वर आश्रयत्व ब्रह्मसिद्धि में स्वीकार किया गया है। ख्यातिवाद के सम्बन्ध में मण्डनमिश्र विपरीत ख्याति के समर्थक हैं। शंकराचार्य के कथानुसार जिस वस्तु में जिस वस्तु का अभ्यास है, उसमें विपरीत धर्म वाले भाव की कल्पना को अध्यास कहते हैं—

"अन्ये तु यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते"[2]

उपर्युक्त को इस प्रकार विशद किया जा सकता है कि उसमें अर्थात सीपी में जो रजत का अध्यास है, उसमें रजत रूप असत् धर्म के रूप में शुक्ति के विपरीत धर्म की कल्पना है जो अत्यन्त असत् एवं अध्यास है।[3]

अद्वैत मत की प्रस्थापना करते हुए ब्रह्मसिद्धिकार ने बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन ब्रह्म के विज्ञान विशेषण के आधार पर किया है जो प्रथम कारिका में ही "विज्ञानमक्षरम्" के रूप में वर्तमान है। इसका तात्पर्य यह है कि वेदान्त के अनुसार आत्मा अथवा ब्रह्म विज्ञानरूप है विज्ञान गुण नहीं। स्फोटवाद के सम्बन्ध में अपनी धारणा को स्पष्ट करते हुए मण्डनमिश्र का कथन है कि स्फोटवाद भी अद्वैतवाद ही है। इस प्रकार वे विज्ञानात्मा स्वरूप "ओम्" अक्षर को स्फोट रूप में स्वीकार करते हैं। यहां यह संकेत अपेक्षित है कि शंकराचार्य ने स्फोटवाद का खण्डन जड रूप स्फोट को लेकर किया है। उपर्युक्त स्फोट दृष्टि को ध्यान में रखकर नहीं। इस प्रकार मण्डनमिश्र के द्वारा प्रतिपादित स्फोट सिद्धि ब्रह्मसिद्धि ही है।

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म आनन्द स्वभाव है इसीलिए ब्रह्म की अभयता का निर्देश ब्रह्मसिद्धिकार ने स्पष्ट रूप से किया है। यहां यह स्पष्टरूपेण उल्लेखनीय है कि ब्रह्मसिद्धिकार ब्रह्म की दुःखाभावरूपता के आधार पर

१. उच्यते-स्थितप्रज्ञस्तावन्न विगलितनिखिलाविद्यः सिद्धः, किं तु साधक एवावस्थाविशेषं" प्राप्तः स्यात ब्रह्मसिद्धि, पृ० १३०

२. ब्र०सू०शा०भा० १.१.१

३. तस्यैवाधिष्ठानस्य शुक्त्यादेः विपरीतधर्मकल्पनांविपरीतो विरुद्धो धर्मो यस्य तद्भावः तस्य रजतादेः अत्यन्तासतः कल्पनामाचक्षते इत्यर्थः। रत्नप्रभा ब्र०सू०शा०भा० १.१-१

ब्रह्म के अभयत्व का प्रतिपादन नहीं करते। उनके इस मत का आधार श्रुति है—

द्वितीयाद्वै भयं भवति।[1]

जैसा कि ब्रह्मसिद्धि की प्रथम दो कारिकाओं के अन्तर्गत स्पष्ट हुआ है, ब्रह्मसिद्धिकार जगत् कारणता को सिद्ध करने वाले वाक्यों का पर्यवसान अध्यारोपित विधि से ब्रह्म में स्वीकार करते हैं। आत्म साक्षात्कार के सम्बन्ध में कर्मकाण्ड से ब्रह्मलोक की प्राप्ति का क्रम ब्रह्मसिद्धिकार को स्वीकार नहीं है। एवं च ऋणापकरण द्वारा मोक्ष के लिए कर्म का उपयोग भी ब्रह्मसिद्धिकार को स्वीकार नहीं है। अद्वैत सिद्धि के सम्बन्ध में मण्डनमिश्र जीव एवं ब्रह्म की अभेदता के पक्षपाती है। परमार्थतः जीव एवं ब्रह्म में ऐक्य है। भेद का कारण अविद्या है। इस प्रकार ब्रह्मसिद्धिकार के अनुसार ब्रह्म विद्या का उदय ही अविद्या निवृत्ति हैं अर्थात् ये दोनों साथ-साथ सम्पन्न होते हैं। इनमें पौर्वापर्य नहीं कहना चाहिए। अद्वैत सिद्धकार मधुसूदन सरस्वती को भी उपर्युक्त सिद्धान्त ही स्वीकार्य है। उनका कथन है कि जैसे-जैसे पृथ्वी पर पड़ी चटाई का आवरण हटता जाता है वैसे-वैसे पृथ्वी दिखलाई पड़ने लगती है। लघुचन्द्रिकाकार ने अद्वैत सिद्धिकार के आशय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वृत्ति के उत्पत्ति क्षण के उत्तरवर्ती-काल में आवरण की निवृत्ति होती है।[1] मुक्ति के सम्बन्ध में ब्रह्मसिद्धिकार का विचार है कि मुक्ति अभाव रूप नहीं है। इसका कारण यह है कि जिसका अज्ञान नष्ट हो जाता है उसे भावस्वरूप ज्ञानोपलब्धि होती है, अभाव स्वरूप नहीं।

वेदान्त दर्शन के सम्बन्ध में विचार करते समय जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में यह प्रश्न प्रायः किया जाता है कि जीवन्मुक्त का ससार के साथ सम्बन्ध होता है, अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में ब्रह्मसिद्धिकार का मत है कि जीवन्मुक्ति में अविद्यासंस्कार के कारण सांसारिक धर्मों का अनुवर्तन देखा जाता है। इस सांसारिकता की निवृत्ति प्रसंख्यान के दृढ़ अभ्यास से होती है। इसीलिए मनन और निदिध्यासन की अपेक्षा बतलाई गई है। जीवन्मुक्तों के व्यवहार के सम्बन्ध में ब्रह्मसिद्धकार मण्डनमिश्र ने एक समुचित दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिस प्रकार किसी नाटक के दर्शक सभ्य समाज को भी नायक-नायिकादि की तरह करुणादि रसों का

१. बृ०उप० १.४.२

अनुभव होता है उसी प्रकार जीवन मुक्त को भी संसार से असम्बद्ध रहते हुए सांसारिक धर्मों का अनुभव होता है।

ब्रह्म सिद्धिकार ने साक्षात् पद्धति से ब्रह्म तत्व की सिद्धि का प्रतिपादन तो किया है किन्तु जैसा कि ब्रह्म सिद्धि की तृतीय कारिका से स्पष्ट है नेति-नेति की प्रक्रिया से प्रपंच का निषेध करते हुए भी ब्रह्म सिद्धि की निष्पत्ति की है—

संहृताखिलभेदोऽतः सामान्यात्मा स वर्णितः।
हेमेव पारिहार्यादिभेदसंहारसूचितम् ।।

द्वितीय काण्ड तर्क काण्ड के अन्तर्गत ब्रह्मसिद्धिकार ने अद्वैत के आगम प्रामाण्य को सिद्ध करते हुए प्रत्यक्ष प्रामाण्य की दुर्बलता को सिद्ध किया है। इस सम्बन्ध में मण्डन मिश्र ने प्रत्यक्ष के मुख्यतत्व, प्राथम्य, उपजीवयत्व एवं निखकाशत्व का निराकरण करते हुए प्रत्यक्ष की अपेक्षा आगम की बलवत्ता सिद्ध की है। जैसा कि महामहोपाध्याय अनन्त कृष्ण शास्त्री ने भी लिखा ब्रह्मसिद्धि की भूमिका के अन्तर्गत स्पष्ट किता है। अपच्छेद न्याय से भी आगम का ही प्राबल्य सिद्ध होता है—

"पूर्वात् परबलीयस्तं तत्र नाम प्रतीयताम्।
अन्योन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत् ।।"

अद्वैत तत्व सिद्धि के प्रामाण्य पक्ष में ब्रह्मसिद्धिकार का मत है कि स्वतः प्रामाण्य के कारण वेदान्त प्रामाण्य में प्रत्यक्षादि किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है। प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरो की अपेक्षा तो लौकिक वस्तु ज्ञान के लिए ही अपेक्षित है। द्वितीय काण्ड के अन्तर्गत यह भी स्पष्ट किया गया है कि कर्म विधि एवं वेदान्त सिद्धान्तों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। यह इसलिए जहाँ कर्म विधि मध्यम अधिकारियों के लिए है, वहाँ वेदान्त उत्तम अधिकारियों के लिए। इस प्रकार कर्म विधि एवं वेदान्त विधि दोनों का ही प्रामाण्य युक्त है। इसके साथ ही कर्म विधि एवं वेदान्तविधि में समन्वय प्रदर्शित करते हुए दोनों में अर्थक्रियाकारिता की दृष्टि से अविरोध सिद्ध होता है। अद्वैत वेदान्त के आधारभूत सिद्धान्त अधिष्ठानवाद एवं अध्यासवाद का निरूपण भी ब्रह्मसिद्धिकार के द्वितीय काण्ड के अन्तर्गत किया गया है। इसी काण्ड के अन्तर्गत अनेकान्तवाद का खण्डन करते हुए मण्डनमिश्र ने अनिर्वचनीयतावाद के आधार पर अद्वैत मत की पुष्टि की है। इस सम्बन्ध में ब्रह्मसिद्धिकार ने अपने आशय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

दर्पणादौ मुखस्येव भेदो भेदावलम्बनः ।
भेदावलम्बनो भेदो न तथा तदभावतः ॥ —ब्र०सि० २-३३

प्रत्येकमनुबद्धत्वादभेदेन मृषा मतः ।
भेदो यथा तरङाणा भेदाद् भेदः कलावतः ॥

—ब्र०सि० २-३४

इस प्रकार ब्रह्मसिद्धिकार ने स्पष्ट किया है कि भेदावगाही प्रत्यक्ष पारमार्थिक अभेद परम्परा से सम्पन्न आम्नाय के बाध में समर्थ नहीं हो सकता ।

ब्रह्मसिद्धि का तृतीय काण्ड "नियोग काण्ड" है । इसके अन्तर्गत प्राभाकर मीमांसक के अनुसार वेदान्त के प्रतिपत्ति विधि विषयक होने के कारण ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के सम्बन्ध में उसका (वेदान्त का) प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता। जैसा कि पहले भी कहा गया है, अश्व दृष्टान्त के अनुसार मण्डन मिश्र गृहस्थावस्था में कर्म सिद्धान्त को शीघ्र मुक्ति लाभ में हेतु स्वीकार करते हैं । उन्होंने ब्रह्म साक्षात्कार के सम्बन्ध में मनन एवं निदिध्यासन की उपयोगिता को भी स्वीकार किया है । इसके अतिरिक्त वे मोक्ष को दिव्य शरीर प्राप्ति अथवा चैत्रादि प्राप्तिवत् ब्रह्म प्राप्ति से प्राप्तव्य न स्वीकार करके स्वरूपाविर्भाव से ही साध्य मानते हैं । यहाँ यह विशेषरूपेण निर्देश योग्य कि ब्रह्मसिद्धिकार ने मोक्ष की अज्ञान निवृत्ति से सम्पन्न स्वरूपाविर्भाव-साध्यता को वास्तविक न मानकर उपचार स्वरूप माना है, के सम्बन्ध में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए ब्रह्मसिद्धि में कहा गया है कि मलिनता के दूर होने पर शुक्ल वस्तु शुक्ल हो गई ऐसा उपचार विषाद कहा जाता है उसी प्रकार मोक्ष की साध्यता भी औपचारिक मात्र है क्योंकि ब्रह्म तो नित्य ही शुद्ध बुद्ध एवं मुक्त है । जहाँ तक अविद्या निवृत्ति का प्रश्न है वह तो कार्य एवं कारण उभयाध्यास की उभय निवृत्ति स्वरूप है । मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत ब्रह्म परिणामवाद का खंडन करते हुए विवर्तवाद सिद्धान्त की पुष्टि की है । इसके साथ ही जगन्मिथ्यात्व का प्रतिपादन स्वप्न दृष्टान्त के आधार पर किया है । जीवन-मुक्ति के सम्बन्ध में मण्डनमिश्र तत्वज्ञान के अनन्तर प्रारब्ध कर्म का अनुवर्तन नहीं स्वीकार करते । उनका कथन है कि प्रारब्ध कर्म बध्य जीवों की बन्धन दशा का कर्म है । जीवन् मुक्तों के लिए तो प्रारब्ध कर्म व्याघ्र आदि के चित्र के समान छायादिवत् है । इस प्रकार मण्डनमिश्र द्वारा जीवन्मुक्त के संस्कार को भी ज्ञानादि के द्वारा निवर्त्य कहा गया है । जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है मण्डनमिश्र स्थितिप्रज्ञ को जीवन्मुक्त न स्वीकार करके उसे साधका-

वस्था के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। विद्वत् सन्यासी का निरूपण करते हुए मण्डन मिश्र ने कहा है कि साधना की सप्तम भूमिका में स्थित साधक जो कर्म विपाक के संस्कारों मात्र का अनुवर्तन करने के कारण समाधि से उठने के पश्चात् भी कर्म का अधिकारी नहीं होता विद्वत्सन्यासी कहलाता है। नैष्कर्मय सिद्धि के सम्बन्ध में मण्डन मिश्र का कथन है कि जिनका कर्मयोग में अधिकार नहीं है ऐसे सन्यासियों को सन्यास से नैष्कर्म सिद्धि होती है, किन्तु यह सिद्धान्त कर्मयोगियों के सम्बन्ध में चरितार्थ नहीं होता। ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत सत्ख्याति तथा असत्ख्याति का निरसन करते हुए विपरीत ख्याति अथवा अनिर्वचनीय ख्याति का समर्थन किया गया है।

अविद्या के सम्बन्ध में मण्डनमिश्र का कथन है कि आवरण एवं विक्षेप शक्ति से युक्त अविद्या जीवाश्रिता होने के कारण समस्त प्रपंच की जननी है। यह प्रपंच ब्रह्म का विवर्तस्वरूप है। यहां यह कथन अपेक्षित है कि अविद्या के जीवाश्रिता होने के कारण स्वप्न एवं जाग्रत आदि का विक्षेप जीव के लिए है ब्रह्म के लिए नहीं। यहाँ यह और विचारणीय है कि अविद्या भेद से जीवों में भेद होने पर भी जीवों का ब्रह्म से अभेद ही स्वीकार्य है। इस प्रकार ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत भामती प्रस्थान के अवच्छेदवाद को न स्वीकार करके प्रतिबिम्बवाद को स्वीकार किया गया है। जब अविद्या बीज शक्ति के रूप में चित्रित होती है तो वह अग्रहण स्वरूपा है और जब उसके स्वरूप का ग्रहण आवरण एवं विक्षेप शक्ति के रूप में होता है तो वह ग्रहण स्वरूपा है। किन्तु ब्रह्मसिद्धिकार का मत है कि अविद्योपाधि के कारण ब्रह्म ही केवल उपादान कारण है अविद्या नहीं—

ब्रह्मसिद्धि प्रस्थानेतु अविद्योपाधिवशाद् ब्रह्मैव केवलं उपादानं नाविद्यापि इति तत्वं।"[1] —अनन्त कृष्ण शास्त्री

ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत मुक्ति के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है कि एक जीव के मुक्त होने पर समस्त जीवों की मुक्ति संभव नहीं है प्रत्युत् जिस जीव की अविद्या निवृत्ति होगी उसी की मुक्ति संभव है। मण्डनमिश्र का यह सिद्धान्त भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वे ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत क्रियापद से ज्ञान की भी विवक्षा है अतः वेदान्त का ज्ञान पर्यवसायित्व होने पर भी क्रियार्थत्व से कोई विरोध नहीं है। संक्षेप में नियोग काण्ड का यही प्रतिपाद्य है। ब्रह्मसिद्धि का चतुर्थ काण्ड सिद्धि काण्ड हैं। सिद्धि

---

१. द्रष्टव्य—ब्रह्मसिद्धि भूमिका, पृ० ८२

काण्ड के अन्तर्गत अखण्ड एवं अवाच्य ब्रह्म के अनौपनिषदत्व की शंका को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वेदान्त वाक्यों की अखण्ड ब्रह्म के प्रतिपादन में प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। अखण्ड ब्रह्म का बोध न पदों के द्वारा, न अभिहितान्वयवाद की प्रक्रिया से और न अन्विताभिधानवाद के द्वारा सम्भव है। ब्रह्मसिद्धिकार का कथन है कि ब्रह्म के अखण्ड स्वरूप होते हुए भी, प्रपंच का निषेध शब्द के द्वारा ही संभव है—

"सर्वप्रत्ययवेद्येऽस्मिन् ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते।
प्रपंचस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते[1]॥

इस प्रकार प्रथम काण्ड की "आनन्दमेकममृतमजम्-इस प्रथम कारिका में जिस ब्रह्म तत्व की प्रस्थापना का उपक्रम किया गया है, उसी को चतुर्थ काण्ड में परम पुरुषार्थ के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है—

तन्निवृत्तिश्च विज्ञानं पुरुषार्थः स्वयं मतम्।

अभिप्राय प्रकाशिका के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप

जैसा कि ब्रह्मसिद्धि ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है, ब्रह्म तत्व का प्रतिपादन ही विशेषरूप से इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। अतएव प्रथम काण्ड, जिसका नाम ही ब्रह्मकाण्ड है, के अन्तर्गत ब्रह्मतत्व की सिद्धि अनेकानेक तर्कों के आधार पर की गई है। अभिप्राय प्रकाशिका के आधार ग्रन्थ ब्रह्मसिद्धि के मंगलाचरण में ही ब्रह्म तत्व की दृढ़ पृष्ठभूमि की प्रतिष्ठा देखने को मिलती है।[2] इस कारिका के द्वारा आनन्द स्वरूप एक तत्व, अमृत, अज, विज्ञान, अक्षर, असर्व सर्व एवं अभय प्रजापति स्वरूप ब्रह्म को प्रणाम किया गया है।

आनन्दस्वरूपता का विचार

"आनन्दादि इमानि भूतानि जायन्ते" (तै० उ० ३.६.१) "एषोऽस्य परमानन्दः" (बृ० उ० ४.३.३२) "विज्ञानमानन्द" (बृ० उ० ३.९.२८) आदि श्रुतियां ब्रह्म की आनन्दस्वरूपता का निर्देश करती हैं। आनन्द के पक्ष में इस पूर्वपक्ष की अवतारणा की गई है कि ब्रह्म को आनन्द स्वरूप स्वीकार करने पर आनन्द के प्रति राग होने के कारण मुमुक्षु को मोक्ष के प्रति प्रवृत्ति होगी किन्तु राग विषयक यह प्रवृत्ति संसार का बीज होने के कारण मुक्ति के

---

१. सिद्धि काण्ड, पृ० २२२

२. आनन्दमेकममृतमजं विज्ञानमक्षरम्।
असर्व सर्वमभयं नमस्यामः प्रजापतिम्॥ —ब्र०सि० १-१

लिए प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि शान्त एवं दान्त मुमुक्षु ही आत्मतत्व का साक्षात्कार संभव है, कहने की आवश्यकता नहीं कि जो आनन्द के प्रति राग से प्रवृत्त होता है, उसके शान्त होने का अवसर उपस्थित नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में यह तथ्य विचारणीय है कि मुमुक्षु की प्रवृत्ति आनन्द स्वरूप ब्रह्म के प्रति राग से नहीं[1], अपितु स्वरूप-ज्ञान की जिज्ञासा से होती है "तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" ।तै०उ० २.१.१। आदि श्रुतियाँ एवं व्यास सूत्र—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र० सू० १.१.१) उपर्युक्त तथ्य का प्रतिपादन करती है। राग के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि ब्रह्मतत्व के दर्शन के नैर्मल्य के कारण ब्रह्म तत्व विषयक चित्त का प्रसाद ही अभिरुचि है जिसे राग पक्ष के अन्तर्गत कदापि ग्रहण नहीं किया जा सकता। इससे यह तर्क भी प्रस्तुत होता है कि यदि मुमुक्षु को ब्रह्म के प्रति राग संभव होता, तो ब्रह्म के विरोधी नश्वर जगत् के प्रति द्वेष का अवसर उपस्थित हो जाता किन्तु ऐसा देखने में आता। देखा यह जाता है कि मुमुक्षु सन्त पुरुष जगत् में भी ब्रह्म दर्शन का अभ्यास है।

ब्रह्म की आनन्दस्वरूपता के सम्बन्ध में एक और प्रश्न विचारणीय है कि यदि आनन्द ब्रह्म स्वरूप में संवेद्य (अनुभूयमान) है तो उसके संवेदनकर्ता से भिन्न होने के कारण द्वैत का प्रश्न उपस्थित हो जायेगा और यदि असंवेद्य माना जायेगा तब तो ब्रह्म तत्व के असत् होने के कारण उसके सम्बन्ध में किया गया महत् संकीर्तन व्यर्थ ही सिद्ध होगा। साथ ही, असंवेद्य ब्रह्म का पुरुषार्थतत्व भी किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा। इस सम्बन्ध में यह कथन अपेक्षित है कि ब्रह्म के सम्बन्ध में उक्त दृष्टि से न उसका संवेद्यत्व सिद्ध है और न असंवेद्यत्व, अपितु इस सम्बन्ध में ब्रह्म की आत्मप्रकाशता ही उसकी संवेद्यता है। इस प्रकार स्वप्रकास्वरूपब्रह्म का आनन्द-स्वभाव कर्म रहित होने के कारण संवेद्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार उसकी स्वप्रकाशता के कारण उसे असंवेद्य भी नहीं कहा जा सकता 'तत् केन कम् पश्येत्' यह श्रुति भी इसी तथ्य का प्रतिपादन करती है।[2]

१. न च रागनिवन्धना तत्र प्रवृत्तिः। न हीच्छामात्रं रागः।
अविद्याक्षिप्तभूतगुणक्षनिवेशं रागमाचक्षते। तत्वदर्शनवैमल्यात्तु
तत्वे चेतसः प्रसादोऽभिरूचिरभीच्छा न रागपक्षे व्यवस्थाप्यते,
यथा संसारासारतातत्वदर्शननिष्पनो नोद्वेगस्ततो द्वेषपक्षे।
—ब्र० सि० पृ० ३

२. बृ०उ० २.४.१४

अभिप्राय प्रकाशिकाकार चित्सुखाचार्य ने आत्मा की स्वप्रकाशता एवं विज्ञानता के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व योगाचार विज्ञानवादी बौद्ध के अनुसार भी विज्ञान के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा है कि विज्ञान ही मिथ्या आकार को प्राप्त करके प्रमेय कहलाता है तथा प्रकाशनाकार से प्रमाण फल वाला सिद्ध होता है।[1] इस प्रमाण फल की प्रकाशन शक्ति प्रमाण कहलाती है। अतः विज्ञान के स्वरूप विशेष में आपत्ति होने पर भी उसके स्वरूप मात्र में आपत्ति संभव नहीं है। आत्मा की स्वप्रकाशता एवं उसकी संवेद्यता के सम्बन्ध में अभिप्राय प्रकाशिकार ने स्पष्ट किया है कि यदि विज्ञान प्रकाश स्वरूप नहीं होगा तो उसके स्वतः अप्रकाशरूप होने के कारण विषयत्व से रहित विज्ञान की सिद्धि नहीं होगी और न ही विषयों का प्रकाश होगा और इस प्रकार इससे समस्त जगत् की अप्रकाशमानता अर्थात अन्धता का प्रसंग उपस्थित होगा। अभिप्राय प्रकाशिकाकार इस सन्बन्ध में विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि विज्ञान नेत्रादि के समान निलीन विषयों को प्रकाशित करता है, यह कहना उचित नहीं है। अपितु विज्ञान तो नयनादि के समान ज्ञानान्तर का जनक तो है ही किन्तु साथ ही यह स्वतः प्रकाशमान एवं प्रकाशन ज्ञान से सम्पन्न भी है।[2] इस प्रकार अभिप्राय प्रकाशिकार ने ज्ञान की स्वप्रकाशता एवं स्वसंवेद्यत्व को स्वीकार करते हुए, उसके आधार पर ही लौकिक विषयों का व्यवहार अंगीकार किया है।[3] अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत शंका करते हुए कहा गया है कि यदि आत्मा का स्वसंवेद्यत्व स्वीकार किया जायेगा तो आत्मा के सम्बन्ध में तृप्ति का विरोध सिद्ध होगा। इस सम्बन्ध में अभिप्राय प्रकाशिकाकार का समाधान है कि वृत्ति के आत्माश्रित होने के कारण आत्मा के सम्बन्ध में स्वसंवेद्यत्व का विरोध नहीं किया जा सका।[4] इस सम्बन्ध में 'अहं ब्रह्मास्मि' को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत

---

१. योगाचारास्तु.....प्रमेयम्—अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ३०

२. यदि विज्ञानं न प्रकाशेत्, तदा विषयस्यापि स्वतो प्रकाशरूपत्वान्न विज्ञानम् नापि विषयाः प्रकाशेरन्निति जगदान्ध्यं प्रसज्येक्तत विज्ञानं नयनादिवद् निलीनमेव विषयान् प्रकाशयतीति न साम्प्रतम्।
—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० ३०

३. सम्प्रतिपन्नज्ञानसामग्रीत एवार्थव्यवहारोऽस्तु।
—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ ३१

४. न च स्वसंवेद्यत्वे स्वात्मणि वृत्ति विरोधः.....स्वविषयायावृतेरा (त्माश्रयाभावात्)। —अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ३१

किया जा सकता है जहाँ ब्रह्म अन्तःकरण वृत्ति का विषय बनता है। इस प्रकार अभिप्राय प्रकाशिकाकार के अनुसार आत्मा एवं विज्ञान की आत्म-प्रकाशता ही उसकी संवेद्यता है। ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।[1]

विज्ञानस्वरूप आत्मा के सम्बन्ध में कर्त्ता एवं कर्मभाव की असिद्धि होने के कारण ज्ञाता के ज्ञेय आत्मा से भेद सिद्ध होगा और इस प्रकार एक ही देह में अनेक आत्माओं का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। इस सम्बन्ध में अभिप्राय प्रकाशिकाकार का कथन है कि (एक ही विज्ञान स्वरूप आत्मा में ग्राह्य-ग्राहक भाव होने के कारण उपर्युक्त विरोध संम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त आत्मा की स्वप्रकाशमानता सिद्ध होने पर) आत्मा की स्वतः प्रकाशमानता होने के कारण समस्त (संवेद्यो) का अनात्मत्व स्पष्टतया सिद्ध है।[2] आत्मा के स्व-प्रकाशत्व का प्रतिपादन आचार्य चित्सुख ने चित्सुखी के अन्तर्गत विशदरूपेण में किया है।

आनन्द की भावरूपता

अद्वैत वेदान्त के चित्सुखाचार्य पूर्ववर्ती आचार्यों के समान ही अभिप्राय प्रकाशिकाकार चित्सुखाचार्य भी आनन्द की भावरूपता को स्वीकार करते हैं। किन्तु आनन्द की भावरूपता के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी का कथन है कि धर्म दो प्रकार के होते हैं एक भावरूप और दूसरे अभावरूप। इनमें अभावरूप धर्मों के द्वारा अद्वैत सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आती। अभावरूप धर्मों का समर्थक 'एकममृतमजम्, आदि श्रुतियाँ हैं। पूर्वपक्षी का कथन है कि आनन्द को यदि भाव स्वीकार किया जायेगा तो उसके धर्मी मानने पर विज्ञान उसका धर्म होगा और यदि विज्ञान को धर्मी माना जायेगा तो आनन्द धर्म होगा। किन्तु एक के धर्म एवं धर्मी ये दो रूप विरोध के कारण नहीं माने जा सकते। इस प्रकार "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"[3] इस श्रुति के अन्तर्गत भावरूप आनन्द एवं ब्रह्म के धर्म एवं धर्मी के भेद से द्वैत सिद्ध होने के कारण अद्वैतवाद के प्रस्था-पन में बाधा पड़ती है। यदि उक्त मत के निराकरणार्थ यह कहा जाये कि धर्म धर्मी से भिन्न नहीं है। उदाहरणार्थ गौ एवं अश्व में धर्म एवं धर्मी-भाव असिद्ध है तो यह कथन उचित नहीं होगा, क्योंकि धर्म एवं धर्मी का अभेद सिद्ध होने पर भी धर्मीरूपता के समान वह अभेद सिद्ध नहीं होगा।

---

१. आत्मप्रकाशतैव तस्य संवेद्यता। —ब्र०सि० पृ० ४

२. अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० ३२

३. बृ०उप० ३.९.२८

अतः धर्मी से धर्म की भिन्नता स्वीकार करनी ही होगी और इस प्रकार अद्वैतवाद के प्रतिपादक 'एकमेवाद्वितीय' श्रुति की संगति सिद्ध नहीं होगी । अतः विज्ञानस्वरूप ब्रह्म की दुःखाभावोपाधि का सूचक ही आनन्द शब्द है। इस सम्बन्ध में यदि कहा जाय कि विज्ञान एवं आनन्द ये दोनों शब्द ब्रह्म के एकत्व के सूचक हैं, तो यह कथन भी समुचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो दोनों शब्दों के प्रयोग की व्यर्थता सिद्ध होगी और यदि यह कहा जाय कि विज्ञान एवं आनन्द पर्यायवाची न होकर पृथक्-पृथक् अर्थ के द्योतक हैं, तो ये ब्रह्म की एकता कैसे सिद्ध कर सकते हैं। इस प्रकार पूर्वपक्षी का कथन है कि दुःख की निवृत्ति ही ब्रह्म के सम्बन्ध में आनन्द शब्द का अर्थ समझना चाहिए।[1] उपर्युक्त पक्ष के सम्बन्ध में यह कहना युक्तिसंगत होगा कि 'विज्ञानमानन्दं' ब्रह्म इस श्रुति के अन्तर्गत विज्ञान एवं आनन्द इस शब्दद्वय के आधार पर अद्वैत में बाधा देखना समुचित नहीं है । उदाहरणार्थ 'प्रकृष्टः प्रकाशः सविता' सूर्य प्रकृष्ट प्रकाश वाला है, इस वाक्य में प्रकृष्ट एवं प्रकाश शब्द पर्यायवाची न होकर इन दोनों शब्दों के द्वारा एक ही अर्थ विशेष प्रकाश विशेष का प्रतिपादन किया जाता है । इस सम्बन्ध में अभिप्राय प्रकाशिकाकार का कथन है कि हम उपर्युक्त उदाहरण में प्रकर्ष एवं प्रकाश की विलक्षणता का खण्डन नहीं करते, किन्तु सविता के स्वरूप लक्षण बोध में प्रकर्ष एवं आनन्द, इन दोनों का तात्पर्य वृत्ति से, उनके अभेद का बोध होता है, ऐसा स्वीकार करते हैं।[2] इसी प्रकार 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' के अन्तर्गत भी विज्ञान एवं आनन्द शब्द पृथक-पृथक अर्थों के बोधक न होकर ब्रह्म के ही रूप हैं ऐसा इस शब्दद्वय के प्रयोग से सिद्ध होता है । इस सम्बन्ध में अभिप्रकाशिकाकार का कथन है कि यहाँ विज्ञान एवं आनन्द को ब्रह्म का स्वरूप कहने के कारण उपर्युक्त धर्म एवं धर्मी भाव की शंका की निवृत्ति हो जाती है । तथा एक ब्रह्म की द्विरूपता का भी खण्डन हो जाता है ।[3] इस प्रकार आत्मप्रकाश का प्रकृष्ट आनन्द-स्वभाव ही ब्रह्म तत्व है, यही सिद्धान्त मत स्वीकार्य है ।

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत "एषोऽस्यपरमानन्दः" इत्यादि श्रुतियों के आधार पर ब्रह्म की आनन्द स्वरूपता का निरूपण किया गया है । यहाँ आनन्द की

---

१. तस्मात् दुःखोपरम एवानान्दशब्दस्य ब्रह्मण्यर्थः ।—ब्र०सि० पृ० ५

२. न वयमनयोर्वैलक्षण्यं वारयारमः किं तु, सवितृस्वलक्षणे बुबोधयिषिते तयोस्तात्पर्यवृत्या तावन्मात्रपर्यवसायितां ब्रूमः ।

—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० ३७

३. रूपशब्देन धर्मधर्मिभावाशङ्काम् एकस्य द्विरूपतां च व्यावर्तयति ।

—अ०प्र० पृ० ३८

परमता के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि यह परमता दुःखाभावरूप है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में परमता से दुःखाभावत्व का अर्थ ग्रहण करने वाले पूर्वपक्षी का कथन है कि लौकिक आनन्द ही उत्कट दुःखरूपता के अभाव के कारण परमत्व है।[1] किन्तु यह कथन औचित्यपूर्ण नहीं है। इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप होने के कारण आनन्दस्वभाव वाला है। अतः आनन्द के लौकिक सुख के समान दुःखाभावत्व का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इस सम्बन्ध में अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने एक और तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है कि "एतस्यैवानान्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृ०उ० ४-३-३२) यह श्रुति लौकिक आनन्द को ब्रह्मानन्द का ही अंश सिद्ध करती है। अतः लौकिक आनन्द भी भावरूप है (दुःख का) अभाव रूप नहीं। यदि अभावरूप हुआ होता तो भावरूप अलौकिक आनन्द का अंश किस प्रकार हो सकता था। यदि यह शंका की जाय कि ब्रह्मानन्द के निर्गुण एवं निरंश होने के कारण लौकिक आनन्द उसका अंश किस प्रकार होगा। इस सम्बन्ध में अभिप्राय प्रकाशिकाकार का तर्क है कि जिस प्रकार एक ही आकाश के घटाकाश आदि रूप से उपाधि के अवच्छेद के कारण अनेक रूप देखने में आते हैं, उसी प्रकार लौकिक आनन्द भी उपाधि भेद से ब्रह्मानन्द का ही अंश समझना चाहिए।[2] युक्ति के आधार पर ब्रह्म की आनन्द स्वभावता के सम्बन्ध में विचार करते हुए ब्रह्मसिद्धिकार ने "तदेतत् प्रेयः पुत्रात्" (बृ०उ० १-४-८) इस श्रुति के आधार पर आत्मा के परप्रेमास्पदत्व को सिद्ध किया है। आत्मा का यह प्रेमास्पदत्व अनुभवस्वरूप है। अतः युक्ति एवं अनुभव दोनों के आधार पर आत्मा की आनन्दरूपता सिद्ध होती है। अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने एक शंका पक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि आत्मा की स्वप्रकाशमान परमानन्दरूपता सिद्ध होने पर संसार और मोक्ष का विशेष भाव सिद्ध नहीं हो सकेगा अर्थात् दोनों में समानता सिद्ध हो जायगी जो समुचित नहीं है किन्तु इस शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि संसार दशा में आनन्द के अज्ञान से तिरोहित होने के कारण संसार दशा कहलायेगी तथा विद्या के द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने पर मुक्ति दशा कहलायेगी। इस प्रकार संसार-दशा एवं मुक्ति-दशा के सम्बन्ध में अविशेषापत्ति का प्रश्न नहीं उपस्थित होगा।[3]

---

१. अ०प्र०, पृ० ३८

२. घटाकाशवत् तदुपाध्यवच्छेदात्। —वही, पृ० ३८

३. न चात्मनः स्वतः प्रकाशमानपरमानन्दरूपतायां·····
·····व्यक्तं मुक्तावभिव्यक्तेः।।—अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ३९

आनन्द की दुःखोपरमता एवं सुखरूपता के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा गया है कि सुषुप्ति अवस्था के पश्चात् 'सुखमहमाज्ञप्सि' इस अनुभव के आधार पर दुःखोपरमता एवं सुखानुभूति की सिद्धि होती है। किन्तु इस सम्बन्ध में अभिप्राय प्रकाशिकाकार का कथन है कि जिस व्यक्ति में पित्तादि की अतिशयता है उसे सुषुप्ति से उठने के पश्चात् सुख का अनुभव न होकर दुःख का ही अनुभव होता है।[1]

ब्रह्मदत्त का भावाद्वैत और उसका खण्डन

जैसा कि ऊपर विवेचन किया गया है, ब्रह्म एवं आनन्द की दुःखाभावरूपता एवं ब्रह्म की स्वप्रकाशता के आधार पर ब्रह्म की भावरूपता का प्रतिपादन एवं उसका निरसन किया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त विचार-दृष्टि में दो मतों की स्पष्ट प्रतीति होती है—

(१) दुःखाभाव पर आधारित भावाद्वैतवाद तथा ब्रह्म की स्वप्रकाशता होने के कारण भावाद्वैतवाद का खण्डन। भावाद्वैतवाद के प्रतिपादक ब्रह्मदत्त आदि विद्वान् हैं। ब्रह्मसिद्धिकार मण्डनमिश्र ने इन विद्वानों का संकेत 'अन्ये मन्यन्ते' कहकर किया है।[2] अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने भी अद्वैत विरोध की आशंका करते हुए इन विद्वानों का संकेत किया है।[3] महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री ने भावाद्वैतवाद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्रह्मदत्त आदि विद्वान प्रपंच के निराकरण को ज्ञान का फल मानते हुए एवं दुःखाभावरूप तथा भावस्वरूप आनन्द के रूप में स्वप्रकाशस्वरूप ब्रह्म को स्वीकार करते हुए भावाद्वैतवाद सिद्धान्त की अवतारणा करते हैं।[4] इस प्रकार भावाद्वैतवाद के दो पक्ष हैं— एक दुःख की अभावरूपता तथा अद्वितीय ब्रह्म एवं आनन्द की भावरूपता। यदि विचार कर देखा जाए तो ब्रह्मदत्त आदि का उपर्युक्त

---

१. सुषुप्तोत्थितस्य पित्ताद्यतिशयवतः कदाचित्-'दुःखमहमस्वाप्सम्' इत्यपि परामर्शदर्शनात्। —अ०प्र०, पृ० ४०

२. अन्ये मन्यन्ते-द्विविधा धर्माः भावरूपा अभावरूपाश्चेति, तत्राभावरूपता नाद्वैतं विघ्नन्ति। ब्र०सि० पृ० ४

३. आनन्दस्य भावरूपत्वे प्रकान्तरेणाद्वैतविरोधमाशङ्कते अन्यः। —अभिप्रकाशिका, पृ० ३४

४. तत्र प्रपंचविलापनं ज्ञानकार्यमिति वदन्तो ब्रह्मदत्तादयः दुःखाभावरूपत्वतद्वत्त्वाभ्यामानन्दमिति स्वप्रकाशब्रह्मणोऽत्र निर्देश इति मन्वाना भावाद्वैतमत्रावतारयन्ति।—अनन्तकृष्ण शास्त्री, ब्र०सि० भूमिका, पृ० ३९

भावाद्वैतवाद का मत सारपूर्ण नहीं है। इसका कारण यह है कि दुःखाभाव एक उपाधि विशेष है, किन्तु ब्रह्मानन्द कथमपि उपाधि विशेष न होकर परमार्थ सत् एवं ब्रह्मस्वरूप हैं। इसके अतिरिक्त ब्रह्मत्व अभाव रूप न होकर स्व-प्रकाश तथा प्रचुर आनन्द स्वरूप है।[1] ब्रह्मसिद्धिकार मण्डनमिश्र तथा अभिप्रायप्रकाशिकाकार चित्सुखाचार्य का भी यही मत है।[2] अतएव ब्रह्मसिद्धिकार मण्डनमिश्र ने ब्रह्म स्वरूप मोक्ष को अविद्योच्छेद रूप कहा है। इस सम्बन्ध में महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मण्डनमिश्र की ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत भी भावाद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन न होकर उसका खण्डन ही वर्तमान है तथा इसमें आचार्य चित्सुख की तत्प्रदीपिका (चित्सुखी) भी प्रमाण है।[3]

आत्मैक्य एवं ब्रह्मैक्य के सम्बन्ध में शंका

कुछ विद्वान् भोक्ता से पृथक् भोग की व्यवस्था होने के कारण, मुक्त एवं संसारी 'बद्ध' का भेद होने के कारण दृक् शक्ति के अर्थवत्व के हेतु से स्वात्मा में वृत्ति विरोध होने के कारण, दृश्य जगत् के द्वारा द्रष्टा का अनुमान होने के कारण तथा दृश्य जगत् के अन्तर्गत सुख-दुःख एवं मोहादि भेद के समान शब्दादि का भेद प्राप्त होने से तथा आत्मैकत्व की प्रतिपादक श्रुति के कारण एवं वस्तुतः जाति, देश तथा काल के विभाग के अभाव के निमित्त से, यह सब जगत् आत्मा ही है। आत्मैव इदं सर्वम्। ऐसा स्वीकार करते हैं।[4] द्रष्टा एवं दृश्य के भेद के सम्बन्ध में भावशुद्धिकार आनन्दपूर्ण मुनि का कथन है कि द्रष्टा एवं दृश्य में ही भेद नहीं है अपितु अनेक द्रष्टाओं अर्थात जीवों में भी सुख दुःख एवं मोह की भिन्न स्थिति होने के कारण परस्पर भेद हैं। इस विषय में एक रोचक उदाहरण देते हुये भावशुद्धि के अन्तर्गत कहा गया है कि मैत्र की स्त्रियों में से देवयानी से मैत्र को सुख मिलता है किन्तु उसकी सपत्नियो को दुःख होता है तथा चैत्र को देवयानी को न प्राप्त करने के कारण

---

१. तस्मादात्मप्रकाशप्रकृष्टानन्दस्वभावेमेव ब्रह्मेति युक्तम्।
—ब्र०सि० पृ० ५ अ०प्र० पृ० ३९

२. अविद्यास्तमयो मोक्षः सा ससारं उदाहृतः।
विद्यैव चाद्वया शान्ता तदस्तमय उच्यते। —ब्र.सि.पृ० ११९

३. ब्रह्मसिद्धिर्भावाद्वैतं नाभिप्रैति, किन्तु तं निरस्यति, अत्र तत्त्वप्रदीपिकादिरपि प्रमाणम्।—अनन्तकृष्णशास्त्री, ब्रह्मसिद्धि भूमिका, पृ०—६

४. ब्र०सि० पृ० ६

मोह होता है।[1] इस सम्बन्ध में अभिप्राय प्रकाशिकाकार का विचार है कि यह आत्मैकत्व उसी प्रकार औपचारिक है जिस प्रकार कि 'ममात्मा (भद्रसेन, भद्रसेन मेरा आत्मा है) इस उदाहरण के अन्तर्गत भाव देखा जाता है।[2]

उपर्युक्त शंका के सम्बन्ध में यह कहा जायेगा कि उपर्युक्त तर्कों के आधार पर ऐकात्म्य भाव की साधक श्रुति का निराकरण नहीं किया जा सकता। जैसा कि उपर कहा गया है, भोक्ता से पृथक् भोग की व्यवस्था समुचित नहीं है। इस सम्बन्ध में यह कहा जायेगा कि भोक्ता से पृथक भोग की कल्पना का आधार कल्पित एवं अविद्या पर आधारित है।[3] वस्तुतः भोक्ता जीव की कल्पना ही आविधिक है। इसी प्रकार मुक्त एवं संसारी में भेद की कल्पना भी उचित नहीं है।इसका कारण यह है कि मुक्त एवं संसारी का भेद भी कल्पित ही है, क्योंकि एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न जीवों में सुख दुख आदि का भोक्ता होकर बद्ध सा प्रतीत होता है।[4] तथा अन्यत्र मुक्त जैसा। किन्तु वस्तुतः न वह बद्ध है, न मुक्त, क्योंकि जो बद्ध नहीं है वह मुक्त किस प्रकार होगा। आत्मा तो स्वभावतः ही नित्य मुक्त है। जहाँ तक दृक् शक्ति की अर्थवत्ता के कारण स्वात्मा में वृत्ति विरोध का प्रश्न है, वह भी समुचित नहीं है इसका कारण यह है कि दृक् शक्ति की अर्थवत्ता के स्वात्मोपयोग के कारण स्वात्मा में वृत्ति विरोध कहना उचित नहीं है।[5] यह कहना कि दृश्य जगत् के द्वारा द्रष्टा का अनुमान होने के कारण ऐकात्म्यवाद की साधयित्री श्रुति सिद्ध नहीं होती, भी उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि दृश्य के आधार पर जिस द्रष्टा का अनुमान लगाया जाता है, वह द्रष्टा जीव भी परमार्थ सत्य न होकर औपाधिक है, अतः उसके औपाधिक एवं मिथ्या होने के कारण ऐकात्म्यवाद की साधक श्रुति में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती

---

१. मैत्रस्य दारेषु देवयान्यां मैत्रस्य सुखम्, तत्सपत्नीनां तु दुःखम् चैत्रस्य तामविन्दतो मोहः एवं प्रति विषयमवगन्तव्यम् सेयमेवंविधस्य दृश्यस्य विभागोपलब्धिस्तस्या इत्यर्थः—भावशुद्धि, पृ०—४२

२. ममात्मा भद्रसेन इत्यादिवत्तादर्थ्यादुपचार इत्यर्थः।
—अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ४२

३. तत्रोच्यते कल्पितादपि भेदाद्योगव्यवस्थासिद्धे रसारमेतत्।—ब्र.सि.पृ० ७

४. देखिए, ब्र०सि०, पृ० ७

५. दृक्शक्तेश्चार्थवत्वं स्वात्मोपयोगात्, न च स्वात्मनि वृत्तिविरोधः।
—ब्र०सि० पृ० ७

उपर्युक्त पूर्व पक्ष के अन्तर्गत यह कहना कि दृश्य जगत् में सुख दुःख एवं मोहादि भेद के समान शब्दादि का भेद प्राप्त होने से आत्मैकत्व की प्रतिपादक श्रुति उपचार मात्र से एकत्व का साधक है, उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में अभिप्रायप्रकाशिका के अन्तर्गत चित्सुखाचार्य का कथन है कि नानात्वरूप भेद के निषेध के द्वारा उपर्युक्त मत का अप्रामाण्य सिद्ध होता है अतः 'मृत्योः स मृत्युमाप्नरेति थ इह नानेव पश्यति' (बृ०उ०४-४-१९) इस श्रुति का तात्पर्य भेद विरुद्ध अभेद में ही है। अभिप्राय प्रकाशिका का विचार है कि उपर्युक्त श्रुति में 'नानेव' (नाना+इव) में इव शब्द का प्रयोग महत्वपूर्ण है। इसका तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जगत् में नानात्व सा अनुभव करता है किन्तु नानात्व का नहीं। चित्सुखाचार्य का कथन है कि यदि भेद दर्शन तात्विक हुआ होता है तो 'नाना पश्यति' यही कहा होता, 'नानेव पश्यति; नहीं।[1] इस प्रकार उपर्युक्त श्रुति के द्वारा स्पष्ट ही अभेद एवं अद्वैत की सिद्धि होती है। यहाँ यह कहना संगत होगा कि जब अद्वैत वेदान्त के अनुसार नानात्व की ही सिद्धि नहीं होती तो जैसा कि उपर पूव पक्ष के अन्तर्गत कहा गया है, दृश्य जगत् में सुख दुःख एवं मोहादि का भेद भी परमार्थतः किस प्रकार देखा जा सकता है। अतः जैसा कि उपर कहा गया है आत्मैकत्व की प्रतिपादक श्रुति को औपचारिक मानना सुतराम् अयुक्त।

क्षणिकविज्ञानवादीमतविमर्श

ब्रह्म के सम्बन्ध में क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धों का कथन है कि वासना युक्त क्लेशों के नाश से जब ज्ञानोपरम हो जाता है तो उसे ब्रह्म प्रप्ति की स्थिति कहते हैं। ब्रह्म प्राप्ति शब्द से यहाँ मुक्ति का तात्पर्य है।[2] एक दूसरे मत के अनुसार समस्त वासनाओं के नष्ट होने के कारण तथा विषयाकारता के समाप्त होने से जो विशुद्धज्ञान उत्पन्न होता है, वही ब्रह्म की प्राप्ति की स्थिति है। ब्रह्म के अनादित्व एवं अनन्तता स्वीकार करने में यह आपत्ति है कि यदि ऐसा स्वीकार किया जायगा तो न उसमें कुछ उपादेय होगा और न त्याज्य। और ऐसा मानने पर शास्त्र एवं तदर्थ प्रवृत्तियाँ व्यर्थ सिद्ध होंगी। यदि कहा जाय कि ब्रह्म विद्या स्वभाव वाला है अर्थात् ज्ञान-स्वभाव सम्पन्न है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो न वह निवर्त्य होगा और न प्राप्त करने योग्य। यदि कहा जाय कि ब्रह्म

---

१. यदि तात्विकं भेददर्शनम्, तदा 'नाना पश्यति' इत्येवोच्यते, न तु 'नानेव पश्यति' इति।—अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ४३

२. ब्रह्मप्राप्तिशब्देन चात्र मुक्तिर्विवक्ष्यते।—अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ५३

का स्वभाव अज्ञान अथवा अविद्या है तो यह भी संगत नहीं है, क्योंकि उसके नित्य होने के कारण पूर्व स्वभाव का त्याग न होने से स्वभावान्तर की सिद्धि नहीं हो सकती। यह कथन कि ब्रह्म को अनादि एवं अनन्त मानने पर न कुछ ग्राह्य होता है, न उपादेय और इस प्रकार शास्त्र तथा मुमुक्षुओं की प्रवृत्तियों का वैयर्थ्य सिद्ध होता है, समीचीन नहीं है, क्योंकि अविद्या की निवृत्ति संभव है। पूर्वपक्षी का कथन है कि हम ऐसा नहीं कहते कि अनादि का उच्छेद नहीं होता, किन्तु यह कहते है कि ब्रह्म के नित्य स्वभाव का उच्छेद नहीं होता। जिस अविद्या की निवृत्ति होती है वह ब्रह्म का स्वभाव नहीं है, इस प्रकार तत्वग्रहणात्मिका अविद्या की तत्वग्रहणात्मिका विद्या से निवृत्ति होती है, उपर्युक्त पूर्व पक्ष का समाधान अविद्या के समुचित निरूपण के आधार पर निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

अविद्या का स्वरूप—

अद्वैत वेदान्त में अविद्या का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आचार्य शंकर ने अविद्या को बीज शक्ति कहा है।[1] जहाँ तक, जैसा कि उपर कहा गया है अविद्या को ब्रह्म का स्वभाव कहने की बात है ब्रह्मसिद्धिकार का कथन है कि अविद्या न ब्रह्म का स्वभाव है न अर्थान्तर, न अत्यन्त असत्, न सत् और इस प्रकार यह अविद्या एवं माया मिथ्या अवभास मात्र है। यदि अविद्या को स्वभाव कहा जायेगा तो यह किसका स्वभाव होगी और फिर यह ब्रह्म से अन्य होगी अथवा अनन्य। जो भी हो स्वभाव होने के कारण यह परमार्थ ही होगी और परमार्थ होने के कारण इसका अविद्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा के समान इसका विद्या के द्वारा निराकरण संभव नहीं है।[2] इस प्रकार अविद्या की सत्ता स्थापित नहीं हो पाती। यदि अविद्या को अत्यन्त असत् माना जायेगा तो आकाश पुष्प के समान यह अविद्या व्यवहार का साधन नहीं बनेगी। अतः अविद्या को अनिर्वचनीय मानना चाहिए। जहाँ तक शून्यवादी के मत का प्रश्न है, अलौकिक विषयों की यथादर्शन प्रतीति होने के कारण शून्यमत की सिद्धि ही होती। विज्ञानवादी के मतानुसार भी बाह्य विषयों का खण्डन नहीं किया जा सकता। यदि कहा जाय कि बाह्य विषय अत्यन्त असत् है तो इनके अत्यन्त असत् होने के कारण इनकी सत्ता आकाश पुष्प के समान ही

---

१. यथादर्शनं प्रतीयमानरूपेणार्थसत्त्वे न शून्यतासिद्धिः।—भावशुद्धि, पृ० ५६
२. आत्मवद्विद्यापनो द्यत्वासिद्धै।—भावशुद्धि, पृ० ५६

समझी जायेगी। इस प्रकार विज्ञानवादी के द्वारा किया गया बाह्य विषयों का निराकरण सर्वथा असिद्ध है।

वैभाषिक मत निरूपण—

बाह्यर्थवादी सौत्रान्तिक वैभाषिक शास्त्र में भी यह अविद्या अनित्य, अशुचि तथा दुःखरूप अनात्मा में क्रमशः नित्य, शुचि तथा सुखरूप से आत्मख्याति स्वरूप है।[1] इसी प्रकार शुक्ति आदि में रजत आदि रूप की भ्रान्ति भी रूप के अवभासित होन पर तथा उसके असत् होने पर भी तद् विषयक अवभास के स्वरुप से सत् रजतादि की व्यावहारिकता रजतादि के असद्विषयत्व के कारण अविद्या में असिद्ध कही जाएगी।[2] यहाँ अभिप्रायप्रकाशिका के अनुसार अवभास के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा जाएगा कि क्या विशिष्ट अवभास अविद्या है अथवा केवल अवभास। विशिष्ट अवभास को अविद्या नहीं कहा जा सकता। रजतादि के विशेषण होने पर रजतादि विशिष्टता का होना संभव नहीं है। इसी प्रकार केवलाभास का अविद्यात्व भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि अवभास मात्र का अविद्यात्व स्वीकार करने पर अति प्रसंग का अवसर होगा।[3] इस प्रकार पूर्वपक्षी का विचार है कि अवभास को सत् मानते हुए उसे अविधा के रूप में स्वीकार करना चाहिए। किन्तु यह सिद्धान्त के अनुसार उचित नहीं है। वस्तुतः अवभासमान रजतादि के असत् होने पर अवभास भी अनिर्वचनीय कहा जायेगा। इस प्रकार अवभास एक अनिर्वचनीय भ्रान्ति ही है। अतः अवभास का आधार अविद्या न सत् है और न असत्। इस प्रकार इसके अदृढ़ स्वभाव वाली होने के कारण इसकी निवृत्ति संभव है, क्योंकि यह भाषा मात्र है। इस प्रकार माया का अविद्यात्व एवं मायात्व स्वीकार करने पर अद्वैत सिद्धि में भी कोई बाधा नहीं आती और न इसके निर्वचनीय स्वभाव में कोई आपत्ति है।

अविद्या का जीवाश्रयत्व

अविद्या के सम्बन्ध में यह शंका स्वाभविक है कि अविद्या का आश्रय ब्रह्म है अथवा जीव। पूर्वपक्षी का विचार है कि अविद्या का आश्रय ब्रह्म

---

१. संसारबीजं खल्वियमविद्यानित्याशुचिदुःखानात्मसु यथासङ्ख्यं नित्य-शुचि-सुखात्मख्यातिः। भावाशुद्धि पृ०—५६

२. अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ५७

३. अवभासमात्रस्याविद्यात्वेऽतिप्रसंगात्। अभिप्रायप्रकाशिका, पृ०—५७

नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म ज्ञान का स्वरूप है। अतः ब्रह्मसिद्धिकार ने अविद्या का आश्रय जीव को माना है।[1] यदि यहाँ यह प्रश्न किया जाये कि जीव भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है और इस सम्बन्ध में छान्दोग्योपनिषद् के निम्नलिखित अंश को उद्धृत किया जा सकता है—

अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नाम-रूपे व्याकरवाणि।

—छा०उ० ६-३-२१

इस सम्बन्ध में यह समाधान समुचित होगा कि यद्यपि परमार्थ रूप से जीव ब्रह्म ही है, किन्तु औपधिक रूप से उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की ही जाती है। पूर्वपक्षी का कथन है कि परमार्थ रूप जीव सत्य है, किन्तु कल्पना से उनमें भिन्नत्व आता है।[2] यदि कहा जाय कि यह कल्पना न ब्रह्म की है और न जीवों की। ब्रह्म की इसलिए नहीं हो सकती कि ज्ञान स्वरूप आत्मा एवं ब्रह्म कल्पनाशून्य है और न यह कल्पना जीवों की हो सकती है, क्योंकि कल्पना से पहले जीवत्व का अभाव है, तथा कल्पना के अधीन जीवविभाग होने के कारण और कल्पना जीवाश्रय के होने कारण, अन्योऽन्याश्रय दोष का प्रसंग उपस्थित होता है। इस सम्बन्ध में अभिप्राय प्रकाशिकाकार का कथन है कि अन्योऽन्याश्रय अथवा इतरेतराश्रय के अनुसार कल्पना जीव का आश्रय लेकर जीव में ही भेद उत्पन्न करती है।[3] इस शंका के सम्बन्ध में यह कहा जायगा कि जीव एवं उसकी आश्रय अविद्या दोनों के माया मात्र एवं मिथ्या होने के कारण अन्योऽन्याश्रय दोष का आक्षेप अनुचित है, क्योंकि असिद्ध वस्तु किसी दूसरी वस्तु की निष्पत्ति करने में समर्थ नहीं हो सकती।[4] यहाँ भाव-शुद्धिकार का कथन है कि मिथ्या वस्तु में भी इतरेतराश्रयत्व की सिद्धि की होती है-मिथ्या वस्तुन्यपि समम् इतरेतराश्रयम्।[5] किन्तु इस परिहार के सम्बन्ध में अनौचित्य प्रदर्शित करते हुए कहा जाता है कि माया के असत् उभय तथा अनुभय भिन्न होने कारण अविद्या में जीवाश्रयत्व की सिद्धि होती है, अतः उक्त परिहार उचित नहीं है। इस विषय में यहाँ यह उल्लेख करना उचित होगा कि माया के सदसद्, उभय तथा अनुभय भिन्न होने के कारण उसकी

---

१. यत्तु कस्याविद्येति, जीवानामिति ब्रूमः। —ब्र० सि० पृ० १०

२. सत्यं परमार्थतः, कल्पनया तु भिद्यन्ते। —ब्र० सि० पृ० १०

३. जीवमाश्रित्य जीवमेव विभेत्स्यति। —अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ५८

४. नासिद्धं वस्तु वस्त्वन्तरनिष्पत्तयेऽलम्। —ब्र०सि पृ० १०

५. भावशुद्धि, पृ० ५९

अनिवर्चनीयता के फलस्वरूप उसे सर्वथा अवस्तु नहीं कहा जा सकता। अतः माया के अवस्तुत्व के आधार पर जीव एवं अविद्या दोनों का उपर्युक्त दृष्टि से अवस्तुत्व सिद्ध करना युक्त नहीं है। इस प्रकार उपर्युक्त दृष्टि से किया गया अन्योऽन्याश्रय दोष का निराकरण संगत नहीं कहा जा सकता। अतः अन्योऽन्याश्रय दोष के सम्बन्ध में समाधान प्रस्तुत करते हुए यह कहा जाएगा कि अविद्या के अनादि होने के कारण अविद्या एवं जीव दोनों के बीजाकुंर के सदृश होने से उपर्युक्त अन्योऽन्याश्रय दोष की संभावना नहीं रहती। इसीलिए ब्रह्मसिद्धिकार ने स्पष्ट कहा है—

तत्रानादित्वान्नेतरेराश्रयत्वदोषः।—ब्र०सि० पृ० १०

अविद्या निवृत्ति का स्वरूप—अभी ऊपर अविद्या आश्रितत्व के सम्बन्ध में विचार करते हुए जीव को अविद्या का आश्रय कहा गया है। यहाँ यह कहना अपेक्षित है कि जीव की अविद्या निवृत्ति होने पर वह मोक्ष भाव को प्राप्त करता है तथा विद्या के द्वारा जीव की अविद्या निवृत्ति संभव है। जहाँ तक अविद्या की निवृत्ति की साधनता का प्रश्न है, श्रवण, मनन, ध्यान तथा ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा शास्त्र में अविद्या की निवृत्ति कही गई है। किन्तु यहाँ यह वक्तव्य है कि श्रवण, मनन पूर्वक ध्यानाभ्यास आत्मा के सम्बन्ध में नेति नेति की प्रक्रिया के द्वारा समस्त भेद प्रपंच का प्रतिबेध करते हुए संसार के सम्बन्ध में भेद दर्शन की निवृत्ति करता है एवंच इसके पश्चात् स्वयं भी प्रविलीन हो जाता है। यहाँ यह वक्तव्य है कि भेदर्शन की समाप्ति होने पर तथा तत्फलस्वरूप श्रोता, श्रवण एवं श्रोतव्य आदि भेदों की समाप्ति होने पर श्रवण आदि विभागान्तर निवृत्ति के विषय नहीं होते, अपितु सामान्य रूप से ही उनकी निवृत्ति होती है। इस प्रकार भेददर्शन की समाप्ति होने पर तथा ध्यानाभ्यास के भी समाप्त होने पर जीव शुद्ध आत्मा के रूप में प्रकाशित होता है।[1] इस सम्बन्ध में अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने विचार करते हुए कहा है कि श्रवणादि के अविद्या रूप होने के कारण अविद्या रूप होने से वे अविद्या के निर्वतक किस प्रकार हो मकते हैं। इस प्रकार श्रवणादि के अविद्या रूप होने पर तथा उनकी अविद्यान्तर की निवर्तकता स्वीकार करने पर अपनी निवृत्ति के लिए भी अविद्यान्तर की अन्वेषणा करनी होगी तथा इस प्रकार अवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा।[2]

१. तथा च तस्मिन्नपि प्रविलीने स्वच्छः परिशुद्धोऽस्यात्मा प्रकाशते।
—ब्र०सि० पृ० १२

२. अविद्यायात्वे प्यविद्यान्तरनिवर्तकतायां स्वनिवृत्तयेऽप्यविद्यान्तरमन्वेषणीयमित्यनवस्थेत्याशयवानाक्षिपति।—अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ६७

इस सम्बन्ध में अभिप्रायप्रकाशिका के अन्तर्गत समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि श्रवणादि की अविद्यात्मकता होने पर भी परमार्थ वस्तु विषयक होने के कारण ही उसकी निवर्तकता है।[1] इस विषय को पुनः स्पष्ट करते हुए अभिप्रायप्रकाशिका के अन्तर्गत कहा गया है कि अद्वैत-परक श्रवण, मनन एवं ध्यान आदि भेद, बुद्धि के विरोधी होने के कारण संसार प्रपंच में भेद मात्र की निवृत्ति करते हुए श्रवण आदि लक्षण रूप भेद की भी निवृत्ति करते हैं।[2]

जहाँ तक श्रवणादि के द्वैत भेद प्रपंच की निवृत्ति के पश्चात् स्वयं विलीन होने की बात है, इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिस प्रकार कतक चूर्ण कलुषित जल के कालुष्य को समाप्त करके स्वयं भी नष्ट हो जाता है उसी प्रकार श्रवणादि भी भेद प्रपंच की निवृत्ति के पश्चात् प्रविलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार अविद्या के द्वारा ही ब्रह्म में जीव का भेद उत्पन्न होना है तथा अविद्यानिवृत्ति होने के पश्चात् जीव केवल ब्रह्म स्वरूप में स्थित होता है। यह इस प्रकार है जिस प्रकार कि घटादि के भेद के कारण घटवर्ती आकाश घटादि के नष्ट होने पर परमाकाशत्व को प्राप्त करता है। यदि कहा जाय कि भेदरूप श्रवणादि के द्वारा भेदरूप प्रपंच की निवृत्ति किस प्रकार आती है, तो कहा जायगा कि दोनों की प्रतिपक्षता के द्वारा यह संभव है। जिस प्रकार, जैसा कि ऊपर कहा गया है कतकरज के द्वारा जलवर्ती रज की निवृत्ति होती है तथा जल (औषधमिश्रित जल) पीने से उदरवर्ती विकृत जल में शौथिल्य आ जाता है, उसी प्रकार भेदरूप श्रवण, मनन एवं ध्यानाभ्यास की भेददर्शन के प्रति प्रतिपक्षता होने के कारण उनके(श्रवणादि) द्वारा भेददर्शन की निवृत्ति संभव है। अतएव अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करने की बात कही गई है—

"विद्यांचाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥[3]"

औषधयुक्त जल से उदरस्थ जल के शैथिल्य के उदाहरण के सम्बन्ध में भावशुद्धिकार आनन्दपूर्ण मुनि का कथन है कि उदरस्थ जल के शैथिल्य में औषध

---

१. ब्र०सि० पृ० ६७
२. अद्वैतविषयाः श्रवणादयो भेददर्शनविरोधिनो भेदमात्रं निवर्तयन्तः तद-विशेषात् श्रवणादिलक्षणमपि भेदं निवर्तयन्ति। —अभिप्रायप्रकाशिका, पृ०-६८
३. ईशा०उप० ॥

कारण है कि जल। अतः यह उदाहरण संगत नहीं है यही कारण है कि ब्रह्मसिद्धिकार ने विष से विषान्तर के शमन का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है।[1] जैसा कि ईशावास्योपनिषद् के उद्धृत मंत्र से स्पष्ट है, विद्या एवं अविद्या दोनों का समभाव ही अमरत्व लाभ में अपेक्षित है। इसका आशय यह है कि अविद्या के बिना विद्या का उदय संभव नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना और उचित है कि अविद्या विद्या का साधन नहीं है अपितु अविद्या के द्वारा श्रवणादि लक्षणा अविद्या की ही निवृत्ति होती है और मृत्यु ही अविद्या है। इस अविद्यारूप मृत्यु के निवृत्त होने पर विद्यारूयोपलक्षित अमृत की प्राप्ति होती है। इस सम्बन्ध में अभिप्रायप्रकाशिकाकार का कथन है कि ब्रह्म विद्या ब्रह्मस्वरूपविषयक अन्तःकरण की वृत्ति है तथा श्रवणादि लक्षणा अविद्या भेद-दृष्टि रूप मृत्यु को पार करती है। अतः श्रवणादि रूप अविद्या ब्रह्मविषयक होने के कारण बलवती है।[2] ब्रह्मसिद्धिकार ने ईशावास्य उपनिषद् के सम्बन्ध में एक और दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहा कि अविद्या विद्या से रहित नहीं है और इस प्रकार दृष्टि भी प्रकाश से रहित नहीं है। यदि भेद दृष्टि प्रकाशशून्य हुई होती तो भेद प्रकाशित नहीं होता, अतएव परम प्रकाश ही अविद्या निवृत्ति होने पर प्रकाशित होता है। इसीलिए कहा गया है—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ —(कठ०उप० २-२-१५)

पूर्वपक्षी का तर्क है कि एकात्मता की सिद्धि होने पर समस्त भेद दृष्टि के असत्य होने के कारण उस भेद दृष्टि पर आधारित श्रवणादि भी असत्य ही सिद्ध होंगे तथा निष्प्रयोजनता प्रतिफलित होगी। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त कथनानुसार असत् से सत् का बोध मिथ्या हो जाएगा। जिस प्रकार कि मिथ्या गृहीत वाष्प से धूप का बोध। इस सम्बन्ध में सिद्धान्ती का कथन है कि असत्य निष्प्रयोजन है, वह कथन उचित नहीं है। उदाहरणार्थ माया भय और प्रीति का निमित्त बनती है। इस प्रकार असत्य सत्य की प्रतिपत्ति का हेतु है। इस सम्बन्ध में रेखागवय तथा लिप्यक्षरों के उदाहरण दिये

---

१. यथा च विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति।—ब्र०सि० पृ० १३

२. अत्र ब्रह्मविद्या ब्रह्मस्वरूपविषयान्तः करणवृत्तिः अविद्या तु श्रवणादिलक्षणा, तथा विभागदर्शनं मृत्युं तरति, तस्या अविद्यात्वे ब्रह्मविषयतया बलवत्वादित्यर्थः।

—अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ७०

गये हैं। जिस प्रकार कि लिपि के अक्षरों के द्वारा वर्णों का बोध होता है, उसी प्रकार अविद्या के द्वारा ईशावास्य के उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार विद्या का लाभ होता है। इस सम्बन्ध में अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने भी कहा है कि गवयात्मक एवं वर्णाकार रूप के असत्य होने पर भी रेखागवय के उदाहरण में रेखाओं को असत्य नहीं जा सकता। यहाँ यह भी विचारणीय है कि रेखामात्र गवयादि के बोध का हेतु नहीं है, अपितु गवयात्मक रेखा विशिष्ट ही गवयादि के बोध का हेतु है।[1] इसी तथ्य को इस प्रकार विशद किया जा सकता है कि असत्य प्रतिबिम्ब से विशिष्ट देश में स्थित प्रतिबिम्ब के अदृष्ट हेतु का अनुमान मिथ्या नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार अविद्या के द्वारा अमरत्व का लाभ सर्वथा संगत ही कहा जाएगा। इसीलिए वेदान्त ग्रन्थों में मिथ्या अहिदंश से मरण बात कही गई है—

मिथ्याऽहिदंशेऽप्यनुमानमपि कथं दुष्टमित्यर्थः।[2]

शंकराचार्य ने भी विष से व्यक्ति की मृत्यु का दृष्टान्त ब्रह्मसूत्र भाष्य में प्रस्तुत किया है।[3] अतः निष्कर्ष रूप से यह कहा सकता है कि अविद्या के द्वारा विद्या की प्राप्ति का सिद्धान्त सर्वथा युक्तियुक्त है।

अविद्या निवृत्ति एवं मोक्ष—अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत अविद्या निवृत्ति को मोक्ष का स्वरूप प्रदान किया गया है। जब जीव में ज्ञानोदय होता है तो समस्त प्रपंच की बीज शक्ति स्वरूपा अविद्या का उच्छेद हो जाता है।

विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्।[4]

इस प्रकार अविद्या का उच्छेद होने पर जीव को अपने स्वरूप अथवा ब्रह्म की स्थिति का बोध होता है। यह स्वरूप स्थिति बोध मोक्ष की स्थिति है। यह ब्रह्मावस्था अथवा मुक्तावस्था ब्रह्म की वह स्थिति है जिसमें न भय है और न लेशमात्र क्लेश क्योंकि यह स्थिति तो सर्वथा आनन्दस्वरूपिणी है।[5] यहाँ यह प्रश्न भी विचारणीय है कि क्या मुक्त पुरुष की संसार में आवृत्ति

---

१ गवयात्मना, वर्णाकारेण च असत्वेऽपि स्वरूपेण तत्र रेखा नासत्येत्यर्थः न रेखामात्रं गवयादिप्रतिपत्तिहेतुः, किन्तु विशिष्टगवयाद्यात्कम्। —अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ७१

२. अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ७३

३. शङ्काविषादिनिमित्तमरणादिकार्योपलब्धेः —ब्र०सू०शा०भा० २. १४

४. ब्र०सू०शा०भा० १-४-३

५. देखिए ब्र०सि० पृ०-१३ तथा भावशुद्धि पृ० ७०

होती है अथवा नहीं। इस स्थिति के अन्तर्गत उपाधि के आश्रय से सम्बन्ध बधनोपराग के त्याग के कारण जीव की परमार्थ ज्ञान स्वरूप में स्थिति होती है। अतः इस स्थिति में अल्पीयान् क्लेश की सम्भावना नहीं होती तथा यह पूर्णतया अभयता एवं आनन्द की स्थिति है।[1] इस विषय में यह कहा जायेगा कि कर्म रूप अज्ञान ही संसार के बंधन का कारण है। किन्तु ज्ञानोदय होने पर जब कर्म का उच्छेद हो जाता है, तब फिर संसार में आवृत्ति नहीं होती और इस स्थिति में कर्त्ता, कर्म एवं फल का भेद नष्ट हो जाता है।[2] इस प्रकार यहाँ भी उल्लेखनीय है कि मुक्त पुरुष इस संसार में रहते हुए कर्म से सर्वथा विमुक्त तो नहीं होता, किन्तु कर्म के सम्बन्ध में उसकी कर्तृत्व, कर्म एवं फल की भावना नष्ट हो जाती है। यही मुक्त पुरुष के जीवन मुक्तवस्था कही जाती है। जब मुक्त पुरुष का प्रारब्ध भोग की समाप्ति हो जाती है तब वह विदेह मुक्ति की स्थिति के लाभ को प्राप्त करता है। इस स्थल पर यह विशदीकरण भी अपेक्षित है कि बन्धन एवं मोक्ष पारमार्थिक न होकर आविधिक एवं व्यावहारिक मात्र है। इसीलिए सुरेश्वराचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है—

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो न तु तत्वतः।

ब्रह्मसिद्धिकार ने भी संसार एवं मोक्ष को परमार्थ न मानकर कल्पित ही कहा है।[3] अतः वेदान्त में बन्धन एवं मोक्ष की स्थिति वास्तविक न होकर होकर अवास्तविक ही है।

मुक्ति के सम्बन्बध में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या मुक्त पुरुष सांसारिक विषयभोग में प्रसक्त होता है अथवा नहीं? इस सम्बन्ध में अभिप्रायप्रकाशिकाकार का विचार है कि मुक्ति की स्थिति में विषयानुभव के हेतु मन की स्थिति न होने के कारण तथा अज्ञान की निवृत्ति होने के कारण से ब्रह्म रूप से भी समस्त विषय भोगों की प्रसक्ति संभव नहीं है। अतः कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व की स्थिति अज्ञान एवं व्यावहारिक स्थिति में ही संभव है, परमार्थ स्थिति में नहीं।

---

१. न चाचल्पीयानापि क्लेशः असकृदभयश्रुतेः-'अभयं वै ब्रह्म' इत्यादि, तथा हि न स्वाभाविकं भयं ब्रह्मणि आनन्दरूपेण विरोधात्।—ब्र०सि० पृ० २

२. अथवा विद्ययाविद्यानिवृत्तौ प्रविलीन एव कर्तुर्कर्मफलविभागः।
—ब्र०सि० पृ० २२

३. कल्पितविषयावेव संसारमोक्षौ न परस्मिन् परमार्थे।—ब्र०सि० पृ० १५

सद्यो मुक्ति एवं जीवन्मुक्ति—अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने मुक्ति के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया है। अभिप्रायप्रकाशिकाकार आचार्य चित्सुख ने मण्डनमिश्र द्वारा स्वीकृत जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त की सर्वथा रक्षा की है। मण्डनमिश्र के अनुसार अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने सद्यो मुक्ति तथा जीवन्मुक्ति दोनों को ही स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में सूर्यनारायण शास्त्री का विचार है कि मण्डनमिश्र जीवन्मुक्ति को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि जीवन्मुक्ति की स्थिति में शरीर का बन्धन तथा मोक्ष इन दोनों की सत्ता मानना परस्पर विरुद्ध है।[1] यहाँ शास्त्री जी का उपर्युक्त कथन समुचित नहीं प्रतीत होता। जहाँ तक जीवन्मुक्ति का प्रश्न है, मण्डनमिश्र ने निम्नलिखित कथन के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से जीवन्मुक्ति को स्वीकार किया है—

सा चेयमवस्था जीवन्मुक्तिरिति गीयते।[2]

जहाँ तक शास्त्री जी का जीवन्मुक्ति के विषय में यह कथन है कि उसमें बन्धन एवं मोक्ष का विरोध है, तो यह समीचीन नहीं है। इसका कारण यह है कि शरीर रहने पर जीवन्मुक्ति की स्थिति में मुक्त पुरुष का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए आचार्य शंकर ने भी शरीर रहित स्थिति को मोक्ष कहा है।

मुक्ति के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त विचारणीय है कि ज्ञान होने पर अविद्या एवं समस्त कार्यों का उच्छेद हो जाता है। इस सम्बन्ध में ब्रह्मसिद्धिकार ने निम्नलिखित श्रुति को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

—मु०उ० २-२-८

उपर्युक्त श्रुति से यह स्पष्ट होता है परावर तत्त्व का ज्ञान होने पर पुरुष शरीर त्याग कर देता हैं, किन्तु यहाँ एक समस्या उत्पन्न होती है कि छान्दोग्य उपनिषद के अतर्गत कहा गया है कि कैवल्य प्राप्ति के लिए शरीर का त्याग एक सीमा है।[3] और यह सीमा देहपात की प्रतीक्षा है। इस प्रकार उपर्युक्त मुन्डक एवं छान्दोग्य श्रुति में परस्पर विरोध प्रतीत होता है, किन्तु मण्डनमिश्र ने इस विरोध का परिहार अत्यन्त नैपुण्य से किया है।

---

1. Surya Narayana Sastri, The Bhamati of Vācaspāti, p. xiii.
२. ब्र०सि० पृ० १३२
३. तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये।-छा०उ० ६-१४-२

आचार्य मण्डनमिश्र ने छान्दोग्य श्रुति के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं।[1] एक दृष्टिकोण के अनुसार ब्रह्मज्ञान के पश्चात् सद्योमुक्ति का समर्थन होता है तथा दूसरे के पश्चात् जीवनमुक्ति का ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है।[2] इस सम्बन्ध में अभिप्रायप्रकाशिकाकार का विचार है कि मण्डनमिश्र द्वारा प्रस्तुत सद्यो मुक्ति का विचार सर्वथा छान्दोग्य श्रुति के अनुरूप है तथा उनका द्वितीय दृष्टिकोण अर्थात् जीवन्मुक्ति का समर्थन उनका अपना दृष्टिकोण है। इस प्रकार सद्यो मुक्ति एवं जीवन्मुक्ति इन दोनों सिद्धातों का समर्थन होने से उपर्युक्त दोनों मतों के परस्पर विरोध का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। जहाँ तक देहपात की प्रतीक्षा के विरोध का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि 'तस्य तावदेव चिरम् यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' इस श्रुति के अन्तर्गत चिरकालता विशिष्ट देहपात की अवधि का आशय नहीं है, किन्तु क्षिप्रता अर्थात् शीघ्रता का आशय है।[3] भावशुद्धिकार[4] एवं अभिप्रायप्रकाशिकाकार[5] ने भी इसी मत का समर्थन किया है। किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्मज्ञान होने पर मोक्ष के सिद्धान्त का समर्थन किया गया है तो सद्यो-मुक्ति और जीवनमुक्ति का भेद क्यों अर्थात् जीवन्मुक्ति को ज्ञान होने पर शरीर धारण करने की क्या अपेक्षा है। इस सन्बन्ध में अभिप्रायप्रकाशिकाकार का कथन है कि ज्ञान होने पर तथा उसके कार्य की निवृत्ति अविद्या होने पर भी उत्तरकालीन भोग की अनुवृत्ति संस्कार के कारण होती

---

१. यस्य तु विद्या तत्क्षयसाधनं शास्त्राद्गम्यते तस्य तदनुसारेण केषांचित् क्षयो विद्यया, केषांचिदुपभोगेन' तत्र 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि इत्यविशेषात्' सर्वक्षरूप्रसङ्गे "तस्य तावदेव चिरम्" इति देहपातावध्श्रवणान्मुक्तेरारब्ध कार्याणां प्रकृतभोगानां न ततः क्षयः भोगेनैव क्षय इति गम्यते।
—ब्र०सि० पृ० १३०

२. 'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः': —ब्र०सू० ४-१-१५
भोगेनत्वितरे क्षययित्वा संपद्यते।—ब्र०सू० ४-१-१९

३. नैषःदोषः न हीयं श्रुतिश्चिरकालताविशिष्टां देहपातावधिं मुक्तेराह, किन्तु क्षिप्रताम्।—ब्र०सू० पृ० १३०

४. तस्य तावदिति श्रुतिश्चिरत्वं मुक्तेर्न प्रतिपादयति किन्तु विदुषः क्षिप्रमुक्तिरिति प्रतिपादयति।—भावशुद्धि, पृ० ४५२

५. अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ४५२-४५३

है।[1] यह उसी प्रकार है जिस प्रकार कि रज्जु में सर्प का आरोप होने पर मिथ्या सर्पदर्शन से भय उत्पन्न होता है, किन्तु रज्जु का बोध होने पर उस भय की निवृत्ति हो जाती है। यहाँ यह वक्तव्य है कि किसी की भय-निवृत्ति रज्जुबोध के पश्चात तुरन्त हो जाती है, किसी की तुरन्त न होकर कुछ समय के पश्चात् होती है। इसका कारण उस व्यक्ति के संस्कार हैं। इसी प्रकार सर्वथा अज्ञान की निवृत्ति एवं कर्मों का क्षय होने पर भी संस्कार के कारण शरीर की स्थिति बनी रहती है तथा कुम्भकार के चक्र के समान जीवन चलता रहता है।[2] इस प्रकार अभिप्रायप्रकाशिकाकार के द्वारा संस्कारों के आधार पर जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का सर्वथा समर्थन किया गया है।[3] यहाँ यह वक्तव्य है कि इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्मा ने भी जीवन्मुक्ति का समर्थन किया है, किन्तु इष्टसिद्धिकार जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में अविद्या के नष्ट होने पर संस्कार के अनुवर्तन के पक्ष में नहीं है।[4] परन्तु मधूसूदन सरस्वती अविद्या की निवृत्ति होने पर भी संस्कारदशा को स्वीकार करते हैं।[5]

यहाँ सद्योमुक्ति एवं जीवन्मुक्ति के सन्दर्भ में स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध में विचार करना भी अपेक्षित है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सद्यो-मुक्ति के सन्दर्भ में स्थितप्रज्ञ का तात्पर्य साधक से है, जीवन्मुक्ति से नहीं[6], किन्तु जीवन्मुक्त के सन्दर्भ में स्थितप्रज्ञ का आशय जीवन्मुक्त से है।[7] साधक, सिद्ध एवं जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में विशेष विवेचन पंचम अध्याय के अन्तर्गत किया जाएगा।

सर्वज्ञात्ममुनि का विचार—

सद्यो मुक्ति एवं जीवन्मुक्ति के सन्दर्भ में सर्वज्ञात्ममुनि का विचार भी उल्लेखनीय है। सर्वज्ञात्ममुनि भी सद्यो-मुक्ति के समर्थक है।

---

१. विद्योत्पत्तावविद्या, तत्कार्यं च निवर्तत एव उत्तरकालीन-भोगानुवृत्तिस्तु संस्कारादेवेत्यविरोधः। —अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ४५३

२. देखिए, अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ४५४ ४५५ ४५६

३. देखिए, अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ४५६

४. इष्टसिद्धि, पृ० ७६

५. अद्वैतसिद्धि, पृ० ८६०

६. स्थितप्रज्ञस्तावन्न विगलितनिखिलाविद्यः सिद्धः, किं तु साधक एवावस्था-विशेष प्राप्तः स्यात्। अ०सि पृ० १३०

७. यस्य स्थिता भवेत्प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः।
प्राज्ञो वेस्तृप्तप्राय स जीवन्मुक्त इष्यते॥ — विवेकचूडामणि-४२९

उनका कथन है कि ब्रह्मज्ञान होने पर अविद्या एवं उसके कार्यों का उच्छेद तत्काल हो जाता है। इस प्रकार जिस व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान हो जाता है, उसे सद्योमुक्ति की प्राप्ति होती है। जीवन्मुक्ति के सन्दर्भ में उद्धृत वाक्यों को सर्वज्ञात्ममुनि अर्थवाद मात्र मानते हैं। इस प्रकार सर्वज्ञात्ममुनि के अनुसार सद्योमुक्ति का सिद्धान्त ही विशेष रूप से स्वीकार्य है तथा जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त आलंकारिक मात्र है[1], किन्तु सर्वज्ञात्ममुनि जीवन्मुक्ति को भी स्वीकार करते हैं।[2]

मीमांसा दर्शन एवं मोक्ष—मीमांसा दर्शन का मोक्ष उत्तर मीमांसा के मत से भिन्न है। जहाँ अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म के अनुभव को ही मोक्ष माना गया है, वहाँ मीमांसक ने आनन्दप्राप्ति रूप मोक्ष की अपेक्षा मोक्ष को दुःखनिवृत्तिरूप स्वीकार किया है। मीमांसावार्तिककार ने श्लोकवार्तिक में मोक्षपक्ष को लेकर महत्वपूर्ण विचार प्रदर्शित करते हुए, मोक्ष की आनन्दात्मकता का खण्डन किया है तथा उसे दुःख का प्रध्वंस मानते हुए नित्य कहा है[3] मोक्ष के सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट का मत है कि मोक्षोपासक को आत्मोपासना करनी चाहिए।[4] कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्तिक के व्याकरण अधिकरण में आत्मज्ञान के निम्नलिखित तीन प्रकार बतलाए हैं—(१) प्रथम प्रकार के अनुसार आत्मा शरीर से अतिरिक्त है। (२) आत्मा पाप, मृत्यु, शोक एवं मोह से रहित है। एतद्विध गुणों से विशिष्ट आत्मज्ञानपूर्वक आत्मोपासन करना चाहिए। इस प्रकार यह बोधात्मक, सगुणात्मक ज्ञान द्वितीय प्रकार का आत्मज्ञान है। (३) 'आत्मानमुपासीत' इस प्रकार की श्रुतियों से केवल निर्गुण आत्मा के ज्ञान की उत्पत्ति पर्यन्त प्रत्यक्ष रूप से होने वाला आत्मतत्व का ज्ञान तीसरे प्रकार का आत्मज्ञान है।

उपर्युक्त मत का यही आशय है कि तृतीय प्रकार का आत्मज्ञान ही मोक्ष रूप उत्कृष्ट फल है।[5]

---

१. संक्षेप शारीरक, ४ ३८ ३९

२. संक्षेप-शारीरक, ४ ४० ४६

३. देखिये, किशोरदास स्वामी, भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा, पृ० १६१

४. सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते।
परार्थं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधार्यताम्॥ तंत्रवा० पृ० २८२

५. विशेष देखिए, डॉ० किशोरदास स्वामी, भारतीय-दर्शन और मुक्ति-मीमांसा पृ० १६२ ६३

कर्म एवं तत्वज्ञान—

जैसा कि प्रथम अध्याय के अन्तर्गत कहा जा चुका है, मण्डन मिश्र के अनुसार कर्म तत्वज्ञान में साक्षात् सहायक नहीं है, अपितु अश्वदृष्टान्त के अनुसार यज्ञादि कर्म से तत्वज्ञान की उपलब्धि में शीघ्रता हो जाती है। इसी आशय से ब्रह्मसिद्धिकार ने ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद को स्वीकार किया है। अब यहाँ इस समस्या पर विचार करेंगे कि क्या समग्र क्रियार्थक आम्नाय प्रपंच के विलय के द्वारा ब्रह्मतत्व का निरूपण करता है अथवा उसका कोई एक देश। इस विषय में ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत निम्नलिखित मत उपलब्ध होते हैं।

प्रथम यत—यह मत ब्रह्मदत्त का है। कुछ विद्वानों का विचार है कि समस्त आम्नाय में किसी न किसी भेद का विलय देखा जाता है। उदाहरण के लिए- "स्वर्गकामो यजेत" के अन्तर्गत शरीरात्म भाव का विलय वर्तमान है। इस उदाहरण के अनुसार देह के अतिरिक्त स्वर्गों के उपभोग का अधिकारी (आत्मा) सिद्ध होता है। अतः इस प्रकार देहात्म भाव का विलय सिद्ध होता है। सहस्र वर्ष पर्यन्त कर्मों के द्वारा कामनाओं की समाप्ति करके प्रजापति पद से परमाद्वैत तत्व को प्राप्त करता है। एवंच विधि निषेध की प्रक्रिया के द्वारा भी रागादिविषयक नैसर्गिक प्रवृत्तियों के भेद के विलय के द्वारा कर्म विधि आत्मज्ञान में उपयोगी सिद्ध होती है। यही कारण है कि शांत, दांत, एवं समाहित पुरुष का आत्मदर्शन कहा गया है। किन्तु अतएव जो लौकिक विषयों से आकृष्ट होता है, वह आत्मज्ञान का अधिकारी नहीं है। पुनरपि कहा जा सकता है कि आत्मदर्शन में उसी का अधिकार एवं सामर्थ्य है जो स्वभाविक रागादि प्रवृत्तियों से ऊपर होकर चित्त में दृढता को प्राप्त करता है। प्रपंच विलय के सम्बन्ध में अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने कहा है कि स्वर्गादि साधन की विधिपरकता होने पर भी पुरुषार्थ की सिद्धि होने पर प्रपंच के विलय की कल्पना समुचित नहीं है, इस प्रकार की शंका करना अयुक्त है। इसका कारण यह है कि ब्रह्म सिद्धि के पश्चात् प्रपंच लय होने पर पूर्ण फल के रूप में निरतिशय पुरुषार्थ स्वरूप मोक्ष की सिद्धि होती है। यहाँ यदि यह कहा जाए कि ऋषि ऋण आदि ऋणत्रय के अपाकरण एवं विविदिषा संस्कार के द्वारा भी परम पुरुषार्थ की सिद्धि संभव है तो यह उचित नहीं है, क्योंकि यह अदृष्ट रूप है तथा दृष्ट के संभव होने पर अदृष्ट की कल्पना करना सर्वथा अनुचित है।[1]

---

१. दृष्टे संभवत्यदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। —अ०प्र०पृ० ११७

द्वितीय मत—द्वितीय मतानुसार जिसकी कामनाएं पूर्ण नहीं हुई हैं और जो कामनाओं से पीड़ित मन वाला है और वह परमाद्वैत ज्ञान के योग्य नहीं है। इस प्रकरण में पूर्वपक्ष की अवतारणा करते हुए अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत कहा गया है कि उपर्युक्त उदाहरण में साध्यसाधनभाव अथवा नियोग प्रतीति होती है। किन्तु देह व्यतिरिक्त आत्मा की नहीं। इस सम्बन्ध में समाधान प्रस्तुत करते हुए सिद्धान्ती का कथन है कि देह से अतिरिक्त स्वर्गोपभोग में समर्थ आत्मा के अभाव में स्वर्गादि निमित्त से यज्ञादि के साधन में प्रवृत्ति की सिद्धि संभव नहीं होगी। इस प्रकार अर्थापत्ति से देह व्यतिरिक्त आत्मा की सिद्धि होती है।[1] इस प्रकार प्रथम तथा द्वितीय मत दोनों ही समस्त आम्नाय को आत्मज्ञान का साधक मानते हैं।

तृतीय मत—तृतीय मतानुसार कर्म विधि स्वर्गादि रूप से पृथक् कार्य वाली होकर पुरुष में आत्मज्ञान की अधिकारिता प्रदान करती है। इसीलिए कहा गया है—

"ऋणानि त्रीव्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयते।" (मनुस्मृति ६ ३५)

अर्थात् ऋषिऋण, देव ऋण तथा पितृ ऋण, इन तीनों से निवृत्त होकर मन को मोक्ष में तत्पर करना चाहिए।

चतुर्थ मत—इसके अनुसार "विविदिषन्ति यज्ञेन"[2] इस श्रुति के अनुसार संयोग पृथक्त्व के आधार पर सभी यज्ञ कर्मों का आत्मज्ञान के अधिकार में प्रवेश है। अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने संयोग पृथक्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा कि फलान्तर के उद्देश्य से विहित कर्म का पुनः फलान्तर से संयोग, संयोग में पृथकत्व कहलाता है[3] उदाहरणार्थ यज्ञादि विहित कर्म का स्वर्गरूप फल में उद्देश्य होने पर भी उसका मोक्ष, से (फलान्तर) से संयोग संयोग पृथक्त्व कहलाएगा। इस प्रकार समस्त कर्मों की आत्मज्ञान में साधनता सिद्ध

---

१. ननु-अत्र साध्य-साधन-भावों नियोगो वा प्रतीयते,
न देहव्यतिरिक्तात्मा, सत्यम् तथापि देहव्यतिरिक्तस्य
स्वर्गोपभोगसमर्थस्यात्मनो भावे स्वर्गार्थयागादिसाधने
प्रवृत्यनुपपत्तें सोऽप्यर्थात् गम्यत एव। —अ०प्र०पृ० ११६

२. बृहदारण्यक उपनिषद् ४ ४ २२

३. फलान्तरोद्देशेन विहितस्य कर्मणः पुनः फलान्तरेण संयोगः, संयोगे पृथक्त्वं नाम। अ०प्र० पृ० ११८

होगी। इसीलिए कहा गया है—"येन केनचन यजेतापि दर्वीहोमेनापहृतमना एव एव भवति।"[1]

उपर्युक्त श्रुति के अन्तर्गत दर्वीहोम का तात्पर्य यह है कि इसमें न किसी की प्रकृति होती है और न विकृति।[2]

पंचम मत—इस मत में पुरुष के गर्भाधान प्रवृत्ति विभिन्न संस्कारों के आधार पर कर्मों का आत्मज्ञान में अधिकार संस्पर्श बतलाया है। अतएव मनुस्मृति में कहा है। 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मेयं क्रियते तनुः'[3] इसका तात्पर्य यह है कि संस्कारों के द्वारा पुरुष के पापों का क्षय होता है, यही कारण है कि विभिन्न कर्मों की ज्ञानसाधनता बतलाई गई है। गौतम ने भी गौतम धर्मसूत्र के अन्तर्गत कहा है—यस्य एते चत्वारिंशत्संस्काराः अष्टावात्मगुणाः सब्राह्मणः सायुज्यं सलोकताम् च गच्छति[4] अर्थात् जिसके ये चालीस संस्कार[5] सम्पन्न हुए हैं तथा जिसमें आठ गुण[6] वर्तमान हैं, वह सायुज्य तथा सालोक्य को प्राप्त करता है।

षष्ठ मत—यह मत उपर्युक्त मतों से विपरीत है। इस मत के अनुसार आत्मज्ञान ही कर्ता का संस्कार होने के कारण कर्माधिकार में प्रवृत्त करता

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् ४ ४ २२

२. न कस्यचित् प्रकृतिः, नापि कस्यचिद्विकृतिः,
ईदृशस्तु होमो दर्विहोम उच्यते। भावशुद्धि पृ० ११६

३. मनु, २-२८

४. गौतम धर्मसूत्र, ८-२२

५. संस्काराः उच्यन्ते—(गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्तोन्नयन जातकर्म-नामकरणान्नप्राशनचौलोपनयनानि, चत्वारि वेदव्रतानि, स्नानम्, सहधर्मचारिणीसंयोगः, पञ्चानां यज्ञानाम् अनुष्ठानम्, देव-पितृ-मनुष्य-भूत-ब्रह्मणां(यज्ञाः)(एतेषाम्)अष्टकाः, पार्वणश्राद्धश्रावण्यग्रहायणी चैत्याश्वयुजि सप्तपाकयज्ञसंस्थाः, (ऊर्ध्वभावग्रहायण्यास्त्रयोऽपरपक्षाः, तेषामेकैकस्मिन्नेकष्टका (भवति) उपकरणं श्रावण्याम्, आग्रयणमाग्रहायणी चैत्यंशूलगवः) अश्वयुजी (न्द्रध्वजहोमः, अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासावाग्रयणं चातुर्मास्यानि पशुबन्धस्सौत्रामणीति सप्तहविर्यज्ञसंस्थाः अत्राग्रयणमाग्रयणेष्टिः अ) ग्निषोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्याम इति सप्तहोमसंस्थाः)। —भावशुद्धि पृ० ११६

६. अष्टावात्मगुणाः-दया, सर्वभूतेषु क्षान्तिः, अनसूया शौचम् अनायासो मङ्गलकार्पण्यमस्पृहेति। —वही

है। यहाँ यह स्पष्ट करना अपेक्षित है कि आत्मज्ञान के लिए कर्मों की इति-कर्तव्यता अपेक्षित होने के कारण कर्मों के प्रवेश मे ही ज्ञान की अधिकारिता समझनी चाहिये।[1]

सप्तम मत—इस मत के अनुसार परस्पर विरोधी कर्म एवं आत्मज्ञान के द्वैत एवं अद्वैत विषयक होने के कारण दोनों में असम्बन्ध है, ऐसा स्वीकार किया जाता है।

अब यहाँ उपर्युक्त मतों की समीक्षा की जायेगी। प्रथम मत समीचीन नहीं है प्रथम मत समीक्षा क्योंकि 'स्वर्गकामोयजेत' आदि वाक्यों के अनुसार कर्मादि विधियाँ स्वर्गादि विषयक होने के कारण कार्यान्तर की अपेक्षा नहीं रखती और न ही आत्मज्ञान विधि कर्म विधियों की अपेक्षा रखती है। अतः जैसा कि प्रथम मत के अन्तर्गत कहा गया है, अतः कर्म विधि का आत्मज्ञान में किस प्रकार अधिकार सम्भव है। यदि यहाँ यह प्रश्न किया जाय कि जिस प्रकार किसी ग्राम के सम्बन्ध में दिया गया निर्देश भी उस ग्राम की प्राप्ति में सहायक होता है, उसी प्रकार कर्म साध्य स्वर्गादि कार्य के द्वारा ज्ञान की अधिकारिता सिद्ध होती है, तो यह उचित नहीं है, क्योंकि ग्राम निर्देशों में पुरुषार्थ प्राप्ति नहीं होती। निर्देश तो निर्देश मात्र है, वे पुरुषार्थ प्राप्ति नहीं है। इसी प्रकार कर्म विधियों का उद्देश्य स्वर्गादि रूप पुरुषार्थ प्राप्ति है और वही आकांक्ष्य है। अतः जो आत्मज्ञान नैराकांक्ष्य है, वह कर्म विधि का उद्देश्य कैसे हो सकता है। इसलिए कर्मविधि की आत्मज्ञान में अधिकारिता सिद्ध नहीं की जा सकती। इस सम्बन्ध में अभिप्रायप्रकाशिकाकार का कथन है कि कर्मविधि के आत्म ज्ञान विधि की अङ्गता होने पर नियमपूर्वक अवान्तर फल साधनता कहीं कही जा सकती।[2]

द्वितीय मत की समीक्षा— द्वितीय मत भी समीचीन नहीं है। इस मत की असमीचीनता में हेतु प्रदर्शित करते हुये यह कहा जायेगा कि कामनाओं के कामनाओं की समाप्ति में असमर्थ होने के कारण, तथा स्वकार्य में निराकांक्ष होने के कारण आत्मज्ञान में कर्म की अधिकारिता सिद्ध नहीं की जा सकती।

तृतीय मत की समीक्षा—तृतीय मत में कहा गया है, पृथक् कार्य वाली होती हुई कर्म विधियाँ पुरुष को ज्ञान की अधिकारिता प्रदान करती है। किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि इस सम्बन्ध में कोई नियोग न होने के

---

१. भावशुद्धि, पृ० ११०

२. देखिये अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० १२३

कारण आश्रम विकल्प देखने में आता है। उदाहरणार्थ 'तस्याश्रमविकल्पेके'[1], 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादि प्रव्रजेत्' आदि वचन विकल्पों के सूचक है। इसी प्रकार 'किं प्रजया करिष्याम:[2], 'किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे'[3] आदि श्रुति वाक्य भी स्पष्ट रूप से कर्म के त्याग का समर्थन करते हैं। अत: यहाँ यह कहना और उपयुक्त होगा कि जो गृहस्थ आत्मविद्या से ही स्वयं को कृतकृत्य मानता है तथा ऋषि ऋण, देव ऋण तथा पितृ ऋण के प्रति जिसकी अनास्था है, ऐसे व्यक्ति में ज्ञानोदय में प्रतिबन्धकत्व को प्रदर्शित करते हुये कहा गया है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।[4]

चतुर्थ मत की समीक्षा—चतुर्थ मत में सिद्धान्त साम्मत्य होने के कारण यह मत समीचीन ही है। जैसा कि इस मत के अन्तर्गत कहा गया है कर्मों के कार्यान्तर में निराकांक्ष होने पर भी आत्मज्ञान के प्रति इनकी अगंता स्वीकार्य है। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन'[5] आदि श्रुति वाक्य भी उपर्युक्त तथ्य का ही प्रतिपादन करते हैं। इसका कारण यह है कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत, जिसका चित्त कर्म संस्कृत है उसी में ज्ञानोत्पत्ति कही गई है।[6] आचार्य शंकर ने भी आत्मबोध के अन्तर्गत 'स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत्' कह कर जिनका चित्त उपासना आदि कर्मों से स्वच्छ है, उन्हीं के लिए आत्मदर्शन की सम्भावना कही गई है। इस प्रकार सिद्धान्ती को आत्मज्ञान में कर्म की उपादेयता उक्त दृष्टि से स्वीकार्य है।

पंचम मत की समीक्षा—पंचम मत में कहा गया है चत्वारिंशत् संस्कार तथा अष्ट गुण भी परम्परया ज्ञानोदय के हेतु हैं क्योंकि इनके द्वारा चित्त शुद्धि सम्भव है।

षष्ठ मत की समीक्षा—षष्ठ मत के अनुसार आत्मज्ञान यज्ञ आदि कर्म का अङ्गभूत है, किन्तु यह मत इसलिये संगत नहीं है कि प्रधानता आत्मज्ञान की है कर्म की नहीं। अत: ज्ञान कर्म का अंग नहीं हो सकता। अतएव 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथम्'[7] यह उपक्रम प्रस्तुत करके इसके पश्चात् कर्म की

---

१. गौतमधर्मसूत्र १-३-१

२. बृ०उप० ४-४-२२

३. वही।

४. मनुस्मृति, ५.३५

५. बृ०उप० ४-४-२२

६. संस्कृतस्य हि विद्योत्पत्ते:। —ब्र०सि० पृ० ३६

निन्दा करके अक्षर ज्ञान की महिमा प्रदर्शित की गई है और कहा गया है कि विद्या एवं कर्म भेद है अतः कर्म एवं ज्ञान की एकाधिकारिता कदाचित् सम्भव नहीं है।

सप्तम मत की समीक्षा—इस मत के अनुसार कर्म को द्वैत विषयक तथा ज्ञान को अद्वैत विषय कहकर दोनों में विरोध प्रदर्शित करते हुए असम्बन्ध कहा गया है। इस विषय में यहाँ वह निरूपणीय है कि उक्त मत के अनुसार अद्वैत ज्ञान के अनुत्पाद का अवसर उपस्थित होता है, क्योंकि प्रमाणादि विभाग तथा अद्वैत ज्ञान में विरोध है किन्तु यहाँ यह वक्तव्य है कि उपाय तथा उपेय में योगपद्य न होने के कारण विरोध नहीं कहा जा सकता। जैसाकि प्रकृत स्थल में कर्म एवं ज्ञान के द्वारा स्पष्ट है, कर्म उपाय है तथा ज्ञान उपेय। अथच अद्वैतस्वरूप आत्मज्ञान को प्रतिपत्ति होने पर समस्त भेद उसी में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार भेद ही अभेद प्रतिपत्ति का उपाय है। इस दृष्टिकोण के अनुसार कर्म आत्मज्ञान प्राप्ति में उपाय स्वरूप कहा जा सकता है। अतः दोनों में सर्वथा असम्बन्ध न होकर उपाय-उपेय सम्बन्ध स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु यहाँ यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि समस्त कर्म फलविभाग आत्मज्ञानपूर्ववर्ती व्यवहार काल में ही है, आत्मज्ञान की स्थिति में नहीं[3] और यह भी विशेषरूपेण द्रष्टव्य है कि परमार्थ अवस्था में सत् एवं असत् का सम्बन्ध कदापि सम्भव नहीं है।[2] इस स्थल पर यह तथ्य भी उद्घाटनीय है कि आत्मज्ञान होने पर भी श्रुति प्रतिपादित श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि का अभ्यास अपेक्षित है। इस सम्बन्ध में ब्रह्मसिद्धिकार ने एक रोचक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि गुड़ की मधुरता निश्चित होने पर भी उसमें मिथ्या तिक्तता का आभास व्यर्थ ही दुःख देता है। इसीलिये व्यक्ति भ्रम से उस गुड़ का परित्याग कर देता है। अतः व्यक्ति के लिए मधुर गुड़ के वास्तविक आस्वाद के समान जिसका ब्रह्मात्मभाव निश्चित हो गया है, उसे भी उपर्युक्त साधनों का अभ्यास करना चाहिए।[4] इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी के लिए भी श्रुति प्रतिपादन साधनों के अभ्यास की पुष्टि की गई है।

---

१. छान्दोग्य उपनिषद्, —१-२-१

२. यावदविद्यं कर्मफलविभागव्यवहारमात्रम् —ब्र०सि० पृ० ३३

३. सतोहि द्वयोः सम्बन्धः संभवति, न सदसतोरसतोर्वा,
—ब्र०सू०शा०भा०, २-१-१८

४. देखिए ब्र०सि०, पृ० ३५

निष्कर्ष—सार रूप से यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक कर्म एवं ज्ञान के सम्बन्ध की बात है, अद्वैत वेदान्त के अनुसार कर्म एवं ज्ञान में वास्तविक (परमार्थिक) सम्बन्ध नहीं सिद्ध किया जा सकता। इसका कारण यह है कि कर्म अविद्या स्वरूप है एवं ज्ञान विद्या स्वरूप। किन्तु जैसा कि उपर्युक्त मतों की समीक्षा करते हुए स्पष्ट हुआ है परम्परया आत्मज्ञान में कर्म की हेतुता को स्वीकार किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि यज्ञादि कर्म मुमुक्षु की चित्तशुद्धि में सहायक होते हैं तथा चित्तशुद्धि की मोक्ष के लिए अनिवार्यता अपेक्षित है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यज्ञादि कर्मों की मोक्ष में अनिवार्यता नही है, क्योंकि जन्म जन्मातरों के संस्कारों के कारण अनेक मुमुक्षु साधकों की सहज रूप से ही चित्तशुद्धि सम्भव है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कर्म मोक्ष में अनिवार्य हेतु न होकर परम्परया साधक सिद्ध होते हैं। जहाँ तक कर्म एवं ज्ञान के सम्बन्ध का प्रश्न है वह भी जैसा कि ऊपर कहा गया है, व्यवहार दशा में परम्परया ही है, परमार्थ दशा में कदापि नहीं। आचार्य चित्सुख के अनुसार कर्म एवं ज्ञान के सम्बन्ध की यही दिशा बोध्य है।

स्फोटवाद एवं अद्वैतवाद—स्फोटवाद मूलतः वैयाकरणों का सिद्धान्त है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के अन्तर्गत स्फोट सिद्धान्त का विशेषरूपेण प्रतिपादन किया है। मण्डन मिश्र ने तो स्फोटसिद्धि में विशेषरूप से स्फोट सिद्धि की है। ब्रह्मसिद्धिकार मण्डन मिश्र ने प्रथम कारिका के अन्तर्गत जो अक्षर शब्द का प्रयोग किया है, वह स्फोटाश्रित ही है।[1] यह अक्षर शब्द ओंकार एवं ब्रह्म का वाचक है।[2] यहाँ ओम् शब्द का अर्थ विज्ञानात्मा तथा स्फोट भी है। यद्यपि भगवान् शंकराचार्य ने भाष्य में स्फोट की अचेतनता के आधार पर उसका खण्डन किया है, किन्तु जैसा कि ब्रह्मसिद्धि की प्रथम कारिका के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया है, आनन्द, अमृत, अज एवं विज्ञानादि स्वरूप स्फोट सर्वथा स्वीकृत है। अतः यह कथन समुचित होगा कि भगवान् शंकराचार्य द्वारा किया गया स्फोटवाद का खण्डन भी जड़ स्फोट के ही अभिप्राय से है, अक्षर ब्रह्मस्वरूप स्फोट के आशय से नहीं। मण्डनमिश्र की स्फोट सिद्धि तथा चित्सुखाचार्य की ब्रह्मसिद्धि में प्रतिपादित स्फोटसिद्धि में मूलतया कोई नहीं है। यहाँ यह कहना और समुचित होगा कि अक्षर स्फोट की शब्दात्मकता औपधिक है। अतः स्फोट भी ब्रह्मस्वरूप ही है। यहाँ अक्षर की

---

१. आनन्दमेकममृतमजमविज्ञानमक्षरम्
असर्व सर्वमभयं नमस्यामः प्रजापतिम्। —ब्र०सि० १-१

२. ओमित्येदक्षरमिदं सर्वम् मा०उ० १-१

शब्दात्मकता से अभिप्रायप्रकाशिका ने शब्द सामान्यात्मा का आशय ग्रहण किया है।[1] इस प्रकार यह कहा जायेगा कि जिस एक सामान्य के अविद्या के कारण वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण, काण्ड एवं शाखा आदि रूप अनेक विध विवर्त भेद दिखलाई पड़ते हैं, वही यह शब्द है तथा तादात्मकता शब्दात्मता है।[2] इस सम्बन्ध में शंका करते हुए अभिप्राय प्रकाशिकाकार का कथन है कि शब्द विशेष वर्षों में विवर्त रूप से व्युत्पन्न जो अक्षर शब्द है उसमें शब्दत्व सामान्य किस प्रकार कहा जा सकता है।[3] इस सम्बन्ध में यह समाधान उपयुक्त होगा कि विशेष के द्वारा सामान्य का बोध होता है अर्थात् पद वाक्य आदि के द्वारा अक्षर स्वरूप शब्द सामान्य का बोध होता है। इस प्रक्रिया को अपरिणामत्व भी कह सकते हैं। किन्तु यहाँ अभिप्रायप्रकाशिकाकार पुनः कहते हैं कि पूर्वावस्था का विनाश क्षरण है तथा उसके अभाव के अभिधायी अक्षर से अपरिणामित्व का बोध किस प्रकार हो सकता है[4], क्योंकि पद, वाक्यादि में पूर्वावस्था स्वरूप अक्षर का विनाश देखने में आता है। इस सम्बन्ध में यह कहा जायेगा कि परिणाम में पूर्वधर्म की निवृत्ति होने के कारण क्षरण अर्थात् विनाश देखा जाता है, किन्तु अक्षर के सन्बन्ध में यह उचित नहीं है।[5] जहाँ तक अक्षर ब्रह्म की शब्दात्मकता का प्रश्न है 'पर चापरं च ब्रह्म यद् ओंकारः'[6] इत्यादि श्रुतियाँ अक्षर ब्रह्म की शब्दात्मकता को सिद्ध करती है। ओंकार रूप अक्षर ब्रह्म के लिए अभिधेय की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि ओम् के साथ लगा हुआ 'कार' प्रत्यय शब्द स्वरूप परक ही है। जैसा कि अभिप्रायप्रकाशिका के अन्तर्गत कहा गया है, यहाँ यह शंका स्वाभाविक है कि 'वर्णात्कार' के द्वारा वर्ण मात्र में 'कार' प्रत्यय का विधान होने से, अकारादि वर्णत्रय समुदाय रूप ओम् कार प्रत्यय का विधान किस प्रकार सम्भव है ?[7] इस

---

१. शब्दात्मतां-शब्दासामान्यात्मताम्। अ०प्र० पृ० ८२

२. भावशुद्धि पृ० ८१

३. शब्दविशेषषु वर्णेषु व्युत्पन्नोऽक्षरशब्दः कथमिव शब्दत्वसामान्यमाह। अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ८२

४. अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० ८२

५. परिणामे पूर्वधर्मनिवृतेः क्षरणस्य भावात् तद्व्युदासेन। ब्र०सि० पृ० १६

६. प्रश्न उ० ५-२

७. वर्णात्कार इति वर्णमात्रे कारप्रत्ययतिधानात् अकारादिवर्णत्रय समुदाये कथं तत्प्रत्यय इति। —अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ८२

ग्रन्थि को सुलझाते हुए अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत कहा गया है कि यह वृद्ध प्रयोग होने के कारण व्याकरण का दोष नहीं है।[1]

ओंकार की उपयोगिता के सम्बन्ध में अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने शंका करते हुए कहा है कि जिस प्रकार मन्दाधिकारियों के लिए प्रतिमा में विष्णु की दृष्टि का बोध होता है, उसी प्रकार ओंकार में ब्रह्म दृष्टि विवक्षित है, वस्तुतः नहीं।[2] अतः ओंकार का उपदेश प्रतीकों इस शंका के प्रदेश मात्र हैं। समाधान में यह कहा जायेगा कि ओंकार के आश्रय से ब्रह्म की उपासना की जाती है। उदाहरणार्थ, देवता की साक्षात् पूजा असंभव होने के कारण उसके चिह्न स्वरूप प्रस्तर में अध्यारोप के द्वारा पूजा का विधान है तथा च इस पूजा से देवता भी प्रसन्न होता है।[3] अतः यहाँ यह सिद्धान्त वक्तव्य यह है कि 'ओमित्यात्मानं ध्यायथ'[4], 'ओमिति युञ्जीत'[5] आदि श्रुतियां ओंकार के द्वारा ब्रह्म के ध्यान की प्रक्रिया का निरूपण करती हैं। इस सम्बन्ध में अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने लिखा है "तस्य वाचकः प्रणवः इति प्रणवस्य ब्रह्मवाचकत्वात् ब्रह्मध्यानं विवक्ष्यत इति पक्षान्तरमाह"[6]।

ओंकार के सम्बन्ध में यह पक्ष और विचारणीय है कि (ओमित आत्मानं ध्यायथ) आदि उपर्युक्त श्रुतियों के आधार पर ओंकार ब्रह्म चिन्तन का अंग अर्थात् साधन है, किन्तु जहाँ ओंकार एवेदं सर्वम्[7], ओमिति ब्रह्म ओमित इदं सर्वम्[8] आदि श्रुतियों के आधार पर ओंकार एवं ब्रह्म का तादात्म्य कहा गया है, वहाँ उपर्युक्त दृष्टि के अनुसार योगागंता (ब्रह्म चिन्तन में ओंकार की साधनता) किस प्रकार सिद्ध होगी ? इस सम्बन्ध में यह कहा जाएगा कि

---

१. वृद्धप्रयोगबलाद् व्याकरणस्य, एवमपिवृद्धप्रयोगदर्शनात् न स दोषः इति-भावः। —अभिप्राय प्रकाशिका पृ० ८२

२. मन्दाधिकारिणां प्रतिमायां विष्णुदृष्टिरिव, ओंकारे ब्रह्मदृष्टिर्विवक्षिता न तु वस्तुतः। —अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० ८२

३. ब्र०सि० प्र० १७

४. मुण्डक, उ० २-२-६

५. महानारायणोपनिषद् २४-२

६. अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० ८३

७. छान्दोग्य उपनिषद् २-२३-३

८. तैत्तिरीय उपनिषद् १-८-१

ओकार के वाणी का तत्त्व होने के कारण तथा वाणी के अत्याग के कारण समस्त वाग् रूप प्रपंच को ओंकार स्वरूप कहा गया है। ओंकार एवं ब्रह्म के तादात्म्य के सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद के अन्तर्गत कहा गया है कि जिस प्रकार शंकु (पर्णनाल) के द्वारा सभी पत्ते निविद्ध अर्थात् व्याप्त होते है उसी प्रकार ओकार समस्त वाक् में व्याप्त है।[1] इस प्रकार समस्त वाक् प्रपंच में ओंकारात्मत्व की पुष्टि की गई है तथा "ओंकार एव इदं सर्वम्" इस श्रुति को उपसंहार रूप में प्रस्तुत किया है और जहाँ श्रुति में 'एतेनैव परं पुरुषं अभिध्यायीत'[2] इस प्रकार के प्रयोग मिलते है, उनका अभिप्राय भी सर्वात्मभाव का प्रतिपादन ही है। यह सर्वात्मवाद ही ध्यान का आधार है। इसीलिए कहा गया है—

'तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति[3] इस प्रकार जैसे कि "ओमितिध्युजीत" आदि श्रुतियों से ओंकार के द्वारा ब्रह्मचिन्तन की साधनता (योगागंता) सिद्ध होती है, उसी प्रकार ओंकार के सर्वात्मभाव के द्वारा भी ब्रह्मचिन्तन की योगागंता स्वीकार करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने भी उपासना विधिपरक वाक्यों में सर्वात्मकता को पर्यवसान रूप में स्वीकार किया है।

उपासनाविधिपरेष्वपि सर्वात्मकत्वं तावदवसीयत एवेति।[4] तादात्म्यपर्यसितवाक्यबलादोङ्कारस्य सार्वात्म्यमुक्त्वा योगागंताश्रयणेऽपि सर्वात्मत्वं सिध्यति।[5]

'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे', 'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चय चरामि'[6] तथा 'अह मनुरभवं सूर्यश्च'[7] आदि श्रुतियां भी वाक् तत्त्व के सर्वात्मभाव को सिद्ध करती है। ब्रह्मसिद्धिकार ने भी 'वागुरूपान्वितं च जगत्' कहकर[8] वाक् तत्त्व के

---

१. "तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णा"। छान्दोग्य उपनिषद् २-२३-३ तथा देखिये इसी पर शांकर भाष्य।

२. प्रश्न-उ० ५-५

३. प्रश्न-उ० ५-२

४. अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० ८३

५. भावशुद्धि पृ० ८३

६. ऋग्वेद १०-१२५-१

७. बृ०उ० १-४-१०

८. ब्र०सि० पृ० १८

व्यापकत्व का निरूपण किया है। इस प्रकार स्फोट सिद्धान्त के अनुसार जगत् वाक् तत्त्व का विवर्त अथवा परिणाम है—

अतो वाचो विपरिणामो विवर्तो वा अवसीयते।[1]

इस विषय में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए, अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत कहा गया है कि जैसे घट, शराब आदि मृद् विकार एवं चन्द्रमा के जल तरंगवर्ती चन्द्रमा आदि भेद दिखाई पड़ते हैं। तथा समानाधिकरण भाव से अवभासमान होते हुए तदात्मरूप से स्थित है, उसी प्रकार यह गौ है। (अयं गौ) तथा यह घट है (अयंघटः) के अन्तर्गत भी शब्द समानाधिकरण्य से भासमान जगत् भी शब्दात्मक है।[2] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ब्रह्मसिद्धि की प्रथम कारिका के अन्तर्गत अक्षर शब्द का प्रयोग जगत् के विवर्त भाव को ही सिद्ध करता है, क्योंकि अक्षर नित्य है तथा विवर्तरूप जगत् अक्षर ब्रह्म का विकार नहीं है। इस सम्बन्ध में यह शंका की जा सकती है कि यदि जगत् को अक्षर ब्रह्म का विकार या परिणाम भी स्वीकार करें तब भी तत्वविघात न होने के कारण अक्षर ब्रह्म की नित्यता में कोई बाधा नहीं पड़ती। इस विषय में महाभाष्य में भी कहा गया है—'तदहि नित्यं यस्मिंस्तत्वं न विध्न्यते।' इस विषय में समाधान प्रस्तुत करते हुए यह कहा जाएगा कि पूर्वपक्षी के उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार भी विशुद्ध आत्मरूप के अभाव होने के कारण सर्वात्मभाव से परिणति होने पर अनित्यत्व सिद्ध होगा तथा एकदेश परिणति होने से सावयवत्व के कारण नित्यत्व तथा एकत्व में बाधा पड़ेगी। इस प्रकार यह विशुद्धत्व और नित्यत्व आकाश सदृश ब्रह्म में ही संभव है तथा समस्त विवर्तस्वरूप कल्पना अक्षर ब्रह्म में ही संभव है।

यहाँ जैसा कि ऊपर कहा गया है, जगत को अक्षर ब्रह्म का विवर्त एवं विकार दोनों ही कहा गया है ब्रह्मसिद्धिकार ने भी जैसा कि ऊपर संकेत किया गया हैं। अतो वाचो विपरिणामों विवर्तो वावसीयते कहकर विवर्त एवं परिणाम को पर्यायवाची माना है। स्फोटसिद्धि के प्रारम्भ में गोपालिका टीका के अन्तर्गत भी जगत् को शब्द का विवर्त एवं विकार दोनों माना है। भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय के अन्तर्गत जगत् को वाक् तत्व का

---

१. ब्र०सि० पृ० १८

२. यथामृद्विकाराः, चन्द्रभेदा वा तत्सामानाधिकरण्येनावभास मानास्तदात्मकाः तथा अयं गौरयं घट इति शब्दसामानाधिकरण्येन भासमानं जगदपि तदात्मकम्।—अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ८५

विवर्त एवं परिणाम[1] दोनों कहा है।[2] नाटककार भवभूति ने भी विवर्त के लिए विकार शब्द का प्रयोग किया है।[3] यदि देखा जाय तो छान्दोग्य उपनिषद्[4] के अन्तर्गत भी विवर्त के लिए विकार शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदों एवं प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों में विवर्त के लिए विकार एवं परिणाम शब्दों का प्रयोग किया गया है। आगे चलकर विकार एवं विवर्त दोनों के पृथक् पृथक् लक्षण किए गए हैं—

सतत्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥[5]

---

१. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।—वाक्यपदीय १-१

२. शब्दस्यपरिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छान्दोग्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत॥—वाक्यपदीय १-१२०

३. आवर्तबुद्बुद-तरंगमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्॥—उत्तररामचरित ३-४७

४. वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिका इत्येव सत्यम्।
—छान्दोग्य उ० ६-४-१

५. वेदान्त सार पृ० ७९ से उद्धृत

व्यापकत्व का निरूपण किया है। इस प्रकार स्फोट सिद्धान्त के अनुसार जगत् वाक् तत्त्व का विवर्त अथवा परिणाम है—

अतो वाचो विपरिणामो विवर्तो वा अवसीयते।[1]

इस विषय में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए, अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत कहा गया है कि जैसे घट, शराब आदि मृद् विकार एवं चन्द्रमा के जल तरंगवर्ती चन्द्रमा आदि भेद दिखाई पड़ते हैं। तथा समानाधिकरण भाव से अवभासमान होते हुए तदात्मरूप से स्थित है, उसी प्रकार यह गौ है। (अयं गौ) तथा यह घट है (अयंघटः) के अन्तर्गत भी शब्द समानाधिकरण्य से भासमान जगत् भी शब्दात्मक है।[2] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ब्रह्मसिद्धि की प्रथम कारिका के अन्तर्गत अक्षर शब्द का प्रयोग जगत् के विवर्त भाव को ही सिद्ध करता है, क्योंकि अक्षर नित्य है तथा विवर्तरूप जगत् अक्षर ब्रह्म का विकार नहीं है। इस सम्बन्ध में यह शंका की जा सकती है कि यदि जगत् को अक्षर ब्रह्म का विकार या परिणाम भी स्वीकार करें तब भी तत्वविघात न होने के कारण अक्षर ब्रह्म की नित्यता में कोई बाधा नहीं पड़ती। इस विषय में महाभाष्य में भी कहा गया है—'तदहि नित्यं यस्मिंस्तत्वं न विध्न्यते।' इस विषय में समाधान प्रस्तुत करते हुए यह कहा जाएगा कि पूर्वपक्षी के उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार भी विशुद्ध आत्मरूप के अभाव होने के कारण सर्वात्मभाव से परिणति होने पर अनित्यत्व सिद्ध होगा तथा एकदेश परिणति होने से सावयवत्व के कारण नित्यत्व तथा एकत्व में बाधा पड़ेगी। इस प्रकार यह विशुद्धत्व और नित्यत्व आकाश सदृश ब्रह्म में ही संभव है तथा समस्त विवर्तस्वरूप कल्पना अक्षर ब्रह्म में ही संभव है।

यहाँ जैसा कि ऊपर कहा गया है, जगत को अक्षर ब्रह्म का विवर्त एवं विकार दोनों ही कहा गया है ब्रह्मसिद्धिकार ने भी जैसा कि ऊपर संकेत किया गया हैं। अतो वाचो विपरिणामों विवर्तो वावसीयते कहकर विवर्त एवं परिणाम को पर्यायवाची माना है। स्फोटसिद्धि के प्रारम्भ में गोपालिका टीका के अन्तर्गत भी जगत् को शब्द का विवर्त एवं विकार दोनों माना है। भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय के अन्तर्गत जगत् को वाक् तत्व का

---

१. ब्र०सि० पृ० १८

२. यथामृद्विकाराः, चन्द्रभेदा वा तत्सामानाधिकरण्येनावभास मानास्तदात्मकाः तथा अयं गौरयं घट इति शब्दसामानाधिकरण्येन भासमानं जगदपि तदात्मकम्।—अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ८५

विवर्त एवं परिणाम[1] दोनों कहा है।[2] नाटककार भवभूति ने भी विवर्त के लिए विकार शब्द का प्रयोग किया है।[3] यदि देखा जाय तो छान्दोग्य उपनिषद्[4] के अन्तर्गत भी विवर्त के लिए विकार शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदों एवं प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों में विवर्त के लिए विकार एवं परिणाम शब्दों का प्रयोग किया गया है। आगे चलकर विकार एवं विवर्त दोनों के पृथक् पृथक् लक्षण किए गए हैं—

सतत्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥[5]

---

१. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।—वाक्यपदीय १-१

२. शब्दस्यपरिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छान्दोग्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत॥—वाक्यपदीय १-१२०

३. आवर्तबुद्बुद-तरंगमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्॥—उत्तररामचरित ३-४७

४. वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिका इत्येव सत्यम्।
—छान्दोग्य उ० ६-४-१

५. वेदान्त सार पृ० ७९ से उद्धृत

तृतीय अध्याय

ब्रह्मसिद्धि का तर्ककाण्ड एवं अभिप्रायप्रकाशिका

प्रमाण का स्वरूप

प्रमाण विवेचन भारतीय दर्शन का प्रमुख विषय है। विभिन्न दर्शनों के अन्तर्गत प्रमाण के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है। नैयायिक के अनुसार प्रमा के करण को प्रमाण कहा गया है।[1] मानमेयोदय के अन्तर्गत भी प्रमा करण को प्रमाण कहा है। न्यायमंजरी के अन्तर्गत सत्य एवं निश्चित अर्थ की उपलब्धि को प्रमाण कहा गया है।[2] सांख्य दर्शन में असंदिग्ध वास्तविक तथा अगृहीत ज्ञान को प्रथा इसके फल को प्रमा कहा गया है।[3] वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत वस्तु के यथार्थस्वरूप ज्ञान को प्रमाणजन्य कहा गया है।[4] मीमांसा दर्शन के वार्तिककार कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्त्तिक के अन्तर्गत दृढ़ तथा अनपेक्षित अर्थात् स्वतः प्रकाशमान ज्ञान को प्रमाण कहा है[5], किन्तु मीमांसक प्रभाकर ने अनुभूति को ही प्रमाण कहा गया है।[6] गुरूमत के अनु-

---

१. प्रमाकरणं प्रमाणम् तर्कभाषा, पं० ११-१२

२. अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धमर्थोपलब्धि विदधती बोधाबोधस्वभावासामग्री प्रमाणम्।—न्यायमंजरी, पृ० १२

३. असंदिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः बोधश्च पौरूषेयः फलं प्रमा।
—सां०का० ४ पर त०कौ०

४. ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं प्रमाणां च यथाभूतवस्तुविषयम्।
—शांकर भाष्य १-१-४

५. तस्मात् दृढ़ं यदुत्पन्नं नापि संवादमृच्छति।
ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत् प्रमाणं प्रतीयताम्॥—श्लो०वा० २-८०

६. अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्। बृहती० पृ० १०३

सत्ता शालिकनाथ मिश्र ने भी पूर्व विज्ञानजनित-संस्कारों से उद्भूत स्मृति से भिन्न अनुभूति को ही प्रमाण माना है।[1] जहाँ तक प्रमाणों की संख्या का प्रश्न है, चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष को ही स्वीकार करता है, किन्तु बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन के अन्तर्गत प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। वैशेषिक दर्शन ने यद्यपि वेदों का प्रामाण्य स्वीकार किया किन्तु उसने पृथक रूप से शब्द प्रमाण को स्वीकार न करके उसका अन्तर्भाव अनुमान में ही कर लिया है। सांख्य एवं योग दर्शन प्रत्यक्ष अनुमान एवं शब्द इन तीन प्रमाणों को स्वीकार करता है। न्यायदर्शन के अन्तर्गत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द ये चार प्रमाण स्वीकार किए गए हैं, तथा मीमांसा दर्शन में प्रभाकर अर्थापत्ति के साथ पांच प्रमाणों को स्वीकार करते हैं तथा कुमारिल भट्ट एवं वेदान्त दर्शन के अनुयायी दार्शनिक विद्वान अभाव को मिलाकर छः प्रमाण मानते हैं। जहाँ तक पौराणिकों का सम्बन्ध है, ये सम्भव एवं ऐतिह्य के साथ आठ प्रमाणों को स्वीकार करते हैं।[2] इस प्रकार वेदान्त दर्शन के अनुयायी अभिप्रायप्रकाशिकाकार आचार्य चित्सुख छः प्रमाणों को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनका दृढ़ विचार है कि अद्वैत ब्रह्म का बोध केवल शब्द प्रमाण के द्वारा ही सम्भव है प्रत्यक्षादि के द्वारा कदापि नहीं। आचार्य मण्डनमिश्र का भी यही मत[3] है।

अभिप्रायप्रकाशिकाकार आचार्य चित्सुख ने भी ब्रह्मसिद्धिकार के अनुरूप अद्वैतसिद्धि के लिए वेदान्त का प्रामाण्य स्वीकार किया है। साथ ही साथ अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत इस तथ्य पर विशेष रूप से बल दिया गया है कि अद्वैत तत्व का बोध प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा सम्भव न होकर शब्द प्रमाण के द्वारा ही सम्भव है। इस सम्बन्ध में यहाँ विस्तार से विवेचन किया जाएगा।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, प्रत्यक्ष प्रमाण ही नहीं, उपमान आदि इतर प्रमाणों के द्वारा भी अद्वैत तत्व स्वरूप ब्रह्मज्ञान सम्भव नहीं है।

---

१. अनुभूतिः प्रमाणं सा स्मृतेरन्या स्मृतिः पुनः।
पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते॥— प्र०प०, पृ० १२७

२. देखिए मानमेयोदय, पृ० १५

३. Mandana says that the knowledge of non-dual Brahman is revealed to us only by scripture..... A Study of the Brahmasiddhi by Dr. R. Balasubramanian.

ब्रह्म बोध में इतर प्रमाणों का अनुपयोगित्व—

उपर्युक्त विवेचन के अन्तर्गत यह विवेचित हुआ है कि ब्रह्म तत्व ज्ञान शब्द प्रमाण के ही द्वारा सम्भव है प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं इस स्थल पर यह विवेच्य है कि प्रत्यक्ष ही नहीं अनुमान, उपमान अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि के द्वारा भी अद्वैत तत्व स्वरूप ब्रह्म का बोध असम्भव है। जहाँ एक अनुमान का प्रश्न है, अभिप्रायप्रकाशिकाकार का कथन है कि अनुमान भेदग्राही प्रत्यक्ष पर आधारित है।[1] अनुमान का आरम्भ लिंग से होता है तथा इसका आधार व्याप्ति है। व्याप्ति के अन्तर्गत पर्वत पर धूप का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार अनुभान की भित्ति लिंग दर्शन तथा व्याप्ति ज्ञान पर आधारित है एवं व्याप्ति ज्ञान प्रत्यक्ष पर आश्रित है।[2] अतः क्योंकि अनुमान के आधार प्रत्यक्ष के द्वारा भेद की सिद्धि होती है इसलिए प्रत्यक्ष पर आश्रित अभेदस्वरूप अद्वैत ब्रह्म का बोध अनुमान के द्वारा सम्भव नहीं है। इसी प्रकार उपमान द्वारा भी अद्वैत ब्रह्म बोध असम्भव है। यहाँ यह कथन आवश्यक है कि उपमान के द्वारा सादृश्य मूलक ज्ञान का बोध होता है। यह सादृश्य 'गौ गवय के समान है' इस प्रकार के भेद अथवा द्वैत पर आश्रित है। अतः जिस उपमान प्रमाण के द्वारा सादृश्य एवं भेद मूलक ज्ञान का बोध होता है उसके द्वारा अद्वैतात्मक ब्रह्म का बोध किस प्रकार सम्भव है। इसी प्रकार अर्थापत्ति के द्वारा भी ब्रह्म तत्व का बोध असम्भव है। यहाँ यह कहा जाएगा कि उपमान के समान ही अर्थापत्ति भी भेदाश्रित है। अर्थापत्ति के अन्तर्गत दो असम्बद्ध विषयों में सम्बन्ध की स्थापना की जाती है। उदाहरणार्थ 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' (हृष्ट पुष्ट देवदत्त दिन में नहीं खाता) इस उदाहरण के अन्तर्गत देवदत्त की पीनता एवं उसके दिन में न खाने का सम्बन्ध न होने पर भी अर्थापत्ति द्वारा सम्बन्ध स्थापित होता है तथा यह आशय गृहीत होता है कि पुष्ट देवदत्त रात्रि में खाता है कि बिना खाए देवदत्त की पुष्टता सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में अभिप्राय प्रकाशिकाकार का कथन है कि अर्थापत्ति की सम्भावना उपर्युक्त दृष्टि से भेद के सम्भव नहीं है एवंच भेद के बिना व्यवहार

---

१. भेदग्राहिप्रत्यक्षपूर्वकत्वात्। —अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० १०२

२. विशेष देखिए—D.M. Dutta, The Six Ways of Knowing p. No. 200-204

३. नोपमानेन सादृश्यविषयत्वात्। —ब्र०सि०, पृ० २२

की अनुपत्ति होने के कारण अर्थापत्ति साक्षात् भेद की बोधक है ।[1] अतः भेद पर आश्रित अर्थापत्ति के द्वारा भी अद्वैत ब्रह्म का बोध सम्भव नहीं कहा जा सकता। यही स्थिति अनुपलब्धि की भी है। अनुपलब्धि के द्वारा भी भाव स्वरूप अद्वैत तत्व का बोध सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि अभाव की बोधक अनुपलब्धि के द्वारा भावस्वरूप अद्वैत तत्व का बोध किस प्रकार किया जा सकता है। अनुपलब्धि के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष को उपस्थित करते हुए अभिप्रायप्रकाशिकाकार का तर्क है कि अनुपलब्धि के द्वारा जगत् के प्रपंचाभाव का बोध होने पर अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि स्वतः सम्भव है ।[2] इस सम्बन्ध में यह कहा जाएगा कि प्रत्यक्ष एवं इतर प्रमाणों के द्वारा जब द्वैतात्मक जगत् की सिद्धि सम्भव है, तो जगत् को अभाव रूप किस प्रकार कहा जा सकता है। अतः उपर्युक्त पूर्वपक्ष के अनुसार जगत् के अभाव की सिद्धि न होने से, अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती।

उपर्युक्त निरूपण से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि के द्वारा अद्वैत ब्रह्म का बोध सम्भव नहीं है अपितु आगम एवं शब्द प्रमाण के अन्तर्गत ही ब्रह्म बोध की साधनता विद्यमान है। जैसा कि इसी अध्याय के अन्तर्गत आगम के द्वारा प्रत्यक्ष का बोध सिद्ध करते हुए पीछे स्पष्ट किया जा चुका है।

मीमांसक का मत और उसका खण्डन—

मीमांसक का प्रसिद्ध मत है कि समस्त आम्नाय के क्रियापरक होने के कारण क्रिया रहित वेदान्त वाक्य अनर्थक है[3] किन्तु इस सम्बन्ध में यह कहा जाएगा कि 'भाग्य से आप प्रसन्न हैं', 'आपको पुत्र प्राप्ति हुई है' इत्यादि वाक्य क्रियापरक न होते हुए भी सुखोत्पत्ति रूप प्रयोजन की सिद्धि करते हैं। इस प्रकार के वाक्यों का उद्देश्य न प्रवृत्ति है और न निवृत्ति। इस सम्बन्ध में पूर्वपक्षी का कथन है कि जब उस व्यक्ति को पुत्र जन्म की सूचना दी जाती है तो उसमें 'तुम सुखी हो' (सुखी भव) इस प्रकार प्रवृत्ति रूप क्रिया का उपदेश दिया जाता है। इस सम्बन्ध में अभिप्रायप्रकाशिका के अनुसार यह कहना

---

१. भेदाधिष्ठानविश्वव्यवहारदर्शनान्यथानुपपत्तिप्रभवा भेदमन्तरेण व्यवहारानुपपत्तेः साक्षादेव भेदं गमयति ।—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० १०२

२. अभाव-प्रमाणात् प्रपंचाभावे सिद्धे ब्रह्मणः स्वतः सिद्धतया सिद्धिः किं न स्यात् । —अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० १०२

३. आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम् —जै०सू० १-२-१

उपयुक्त होगा कि यद्यपि पुत्रोत्पत्ति रूप शुभ सूचना के फलस्वरूप व्यक्ति की अनेक प्रकार की क्रियाएँ देखी जा सकती हैं किन्तु उपर्युक्त वाक्य का उद्देश्य क्रिया निर्देश नहीं कहा जा सकता, अपितु उसका उद्देश्य वास्तविक रूप से वर्तमान वस्तु अर्थात् पुत्रोत्पत्ति की सूचना है। अतः उसका प्रयोजन क्रिया-परक नहीं कहा जा सकता।[1] सिद्धान्ती का कथन है कि जहां तक अपने मत की पुष्टि में उपर्युक्त सिद्धवस्तुपरक वाक्य का सम्बन्ध है उसमें दो प्रकार से क्रिया का सम्बन्ध देखा जा सकता है। एक, 'तुम्हें पुत्र प्राप्ति हुई है' इसे उपाय समझा जाए अथवा पुत्रोत्पत्ति को उपेय रूप से ग्रहण किया जाए। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि पुत्रोत्पत्ति को उपाय रूप नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह सम्पन्न हो चुकी है। इसके अतिरिक्त पुत्रोत्पत्ति को उपेय अर्थात् साध्य मानने पर भी क्रिया की अपेक्षा नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि शुभ साधन के प्राप्त होने पर जो प्रसन्नता की उपलब्धि होती है उसके लिए भी क्रिया की अपेक्षा नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त सिद्ध वस्तु-परक वाक्यों के द्वारा क्रिया की सिद्धि नहीं होती।

इस स्थल पर यह तथ्य विचारणीय है कि जहाँ किसी वस्तुपरक साधन के बाद क्रिया की सिद्धी होती है वहाँ उस सूचना का उद्देश्य क्रियापरक नहीं होता निदर्शनार्थ किसी व्यक्ति को यह सूचना दी जाती है "इस स्थान पर सम्पत्ति (खजाना) है (निधिमान् एष भूभागः) तो वह व्यक्ति या तो उस निधि को लेने के लिए प्रकृत होता है अथवा निवृत्त। अतः यह कहना कि यह क्रिया का उदाहरण है, उचित नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि उपर्युक्त उदाहरण के द्वारा वास्तविक तथ्य (सम्पत्ति) की सूचना दी जाती है क्रिया की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति की नहीं। यदि उपर्युक्त सूचना को प्राप्त करने के बाद व्यक्ति क्रिया में प्रवृत्त अथवा निवृत्त होता तो उसका कारण यह है कि ऐसा वह पूर्वजन्म के संस्कार के आधार पर करता है जिसका आधार कोई अन्य ज्ञान साधन है। प्रकृत उदाहरण में यह संस्कारात्मक ज्ञान साधन इस प्रकार हो सकते हैं—सम्पत्ति लाभप्रद है अथवा घातक। तदनुसार ही व्यक्ति क्रिया में प्रवृत्त अथवा निवृत्त होता है।[2]

---

१. भूतार्थं पर्यवसितस्यापि वाक्यस्यतत्वप्रतिपादननान्तरीयतया प्रत्यक्षादिवत् प्रयोजनवत्वे सति न प्रवृत्तिपर्यन्तो व्यापारः कल्पनीय, अनुपपत्त्यभावात्।
—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० २०७

२. शब्दादभूतमर्थं प्रतिपद्य तस्य प्रमाणान्तरादवगतामुपकारहेतुतामपकार हेतुतां वा संस्त्यज्य इच्छया प्रवर्तते, द्वेषेण निवर्तते वा।—ब्र०सि०, पृ० २४

उपर्युक्त उदाहरण के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी का यह तर्क समुचित नहीं है कि जो व्यक्ति यह कहता है—"इस स्थल पर निधि अथवा सम्पत्ति है" उसका उद्देश्य वस्तुपरक न होकर क्रिया में प्रवृत्त करना है। इसीलिए वह यह न कहकर "इस स्थान पर जो निधि है उसे ग्रहण कर लो" "इस स्थान पर सम्पत्ति" ऐसा कहता है और इस प्रकार उपर्युक्त वाक्य का उद्देश्य क्रिया में प्रवृत्त करना है। विषय में यह कहा जाएगा, कि यह हो सकता है यह वाक्य- "इस स्थान पर सम्पत्ति है" क्रिया में प्रवृत्ति का हेतु बन जाए किन्तु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि इस वाक्य का उद्देश्य व्यक्ति को क्रिया में प्रवृत्त करना है। इसी तथ्य को एक और प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि किसी को प्रत्यक्ष के द्वारा स्वर्णमुद्रिका का बोध होता है तो उससे प्रत्यक्ष के द्वारा केवल उस विषय के अस्तित्व का ही ज्ञान होता है या ज्ञान स्वर्णमुद्रिका के द्रष्टा को न ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त करता है और न निवृत्त। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि स्वर्णमुद्रिका का प्रत्यक्ष प्रवृति का सहायक तो बनता ही है। इसी प्रकार यह वाक्य (उस स्थान पर निधि है)। यद्यपि वस्तुपरक ज्ञान का बोधक है किन्तु फिर भी यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि उक्त वाक्य क्रिया का सहायक बनता है किन्तु इस आधार पर यह कहना संगत नहीं होगा कि उपर्युक्त वाक्य से बोध्य सूचना साक्षात् रूप से क्रिया का कारण बनती है। यह स्वीकार करने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि उपर्युक्त वाक्य के वक्ता का उद्देश्य श्रोता को क्रिया में प्रवृत्त करना है परन्तु इससे यह यह सिद्ध नहीं होता कि (उस स्थान पर सम्पत्ति है) इस वाक्य का उद्देश्य क्रिया मे प्रवृत्त करना है।

मीमांसक के अनुसार शब्दों तथा क्रिया के सम्बन्ध पर विचार—

मीमांसक का कथन है कि वाक्य के अन्तर्गत शब्द शक्ति का बोध तभी सम्भव है जबकि उनका प्रयोग नियोगपरक वाक्यों के अन्तर्गत होता है। इस सम्बन्ध में यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता कि शब्दों तथा उनके द्वारा बोध्य अर्थ का बोध तभी सम्भव है जबकि वह वाक्य क्रियापरक हो। इस विषय में यह कहा जाएगा कि उपर्युक्त कथन के विपरीत किसी वाक्य के क्रिया परक न होने पर भी वाक्यार्थ का बोध होता है। उदाहरणार्थ "देवदत्त लकड़ी से पात्र में भोजन पकाता है (देवदत्तः काष्ठैः स्थालयां ओदनम् पचति) यहाँ व्यक्ति के विभक्तयर्थ काष्ठ को छोड़कर तथा अन्य सभी शब्दों का अर्थ बोध हो जाता है। उसे ज्ञान प्राप्त होता है कि काष्ठैः (लकड़ी से) काष्ठ का करण कारक है। इससे उसे इस अर्थ का बोध होता है कि वह वस्तु अर्थात् काष्ठ जो

भोजन के पकाने में कारण है, वही काष्ठ शब्द का अर्थ है। इससे यह आशय निकलता है कि प्राभाकर मीमांसक का यह कथन युक्तिपरक नहीं है कि शब्दों में अर्थ बोधकता की शक्ति तभी सम्भव है जबकि उनका प्रयोग नियोग वाक्यों में किया जाय।[1]

एक अन्य प्रकार से भी प्राभाकर मीमांसक के मत का खण्डन किया जाता है। मीमांसक का कथन है कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सभी वाक्य क्रियापरक हैं। इस सम्बन्ध में मीमांसक का कथन है कि वाक्यान्तरवर्ती सभी शब्दों का प्रयोग किसी न किसी प्रकार क्रिया से होता है। उदाहरणार्थ यदि गौ शब्द का व्यवहार किया जाता है तो वहाँ यह आकांक्षा होती है कि गौ को लाओ या हाँको अथवा भगा दो अथवा छोड़ दो। इस प्रकार गौ शब्द से उपर्युक्त क्रिया का बोध होता है। एवंच प्राभाकर मीमांसक का कथन है कि क्रिया के लिए किसी कर्ता अथवा साधन अथवा आश्रय की अपेक्षा होती है। अतः कर्म की बोधक क्रिया किसी वाक्य का प्रमुख आधार है तथा उसका सम्बन्ध वाक्यान्तरवर्ती सभी शब्दों से है।

प्राभाकर मीमांसक के मत के सम्बन्ध में यह शंका होती है कि क्या शब्द क्रिया के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से अपना अर्थ व्यक्त करते हैं अथवा क्रिया के सम्बन्ध से अपने अर्थ के बोधक हैं या शब्द परस्पर सम्बन्ध से अपने अर्थ का बोध कराते हैं।[2] प्रथम विकल्प के अनुसार यदि शब्द क्रिया के बिना व्यक्ति को क्रिया में प्रवृत्त करना है। वस्तुतः वाक्यार्थ का उद्देश्य वक्ता की इच्छा के आधार पर निर्धारित करके वक्ता द्वारा प्रयुक्त वाक्य को वाक्यार्थबोधक शक्ति आधार पर ही निर्धारित करना चाहिए।[3] यहाँ यह तर्क प्रस्तुत करना समुचित होगा कि यदि वक्ता की इच्छा को वाक्य का उद्देश्य माना जाएगा तो "इस स्थान पर सम्पत्ति है" इस कथन के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले अनेक लाभ उक्त वाक्य के उद्देश्य समझे जायेंगे, किन्तु यह हास्यास्पद होगा। इसके अतिरिक्त यदि उपर्युक्त वाक्य के वक्ता का उद्देश्य श्रोता को क्रिया में प्रवृत्त करना माना जायेगा, तब तो प्रत्येक व्यक्ति सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए लालायित होने लगेगा, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता क्योंकि ऐसे व्यक्ति

---

१. ब्र०सि०, पृ० २५

२. ब्र०सि० पृ० २५ तथा देखिए अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० ११२

३. न प्रयोक्तृभिर्स धानात् शब्दार्थत्वम् अपितु सामर्थ्यात्।—ब्र०सि० पृ० २५ तथा देखिए, अभिप्राय अकाशिका, पृ० १०६, ११०

भी देखने में आते हैं जो स्वयं द्वारा अर्जित सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त नहीं होते। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि सम्पत्ति विषयक उपर्युक्त सूचना के आधार पर जिस क्रिया की प्रवृत्ति देखी जाती है वह वाक्य का उद्देश्य कदापि नहीं है।[1]

इस प्रकार प्राभाकार मीमांसकों का यह कथन समीचीन नहीं है कि सभी वाक्यों का उद्देश्य क्रिया है। प्राभाकर मीमांसक का यह कथन भी अनुचित है कि वेद का परम अभिप्राय क्रिया परक है। इसके विपरीत जैसा कि इसी स्थल पर पीछे स्पष्ट किया जा चुका है 'तुम सुखी हो', 'तुम्हें पुत्रप्राप्ति हुई है' इत्यादि वाक्य क्रियापरक न होकर भी सुखरूप प्रयोजन परक है इसी प्रकार आम्नाय अर्थात् वेद वाक्यो का प्रयोजन भी स्वतन्त्र रूप से अपने अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ होंगे तो वे वाक्य के अन्य शब्दों से सम्बद्ध हुए बिना वाक्यार्थ का बोध नहीं करा सकते। इसके अतिरिक्त प्रथम विकल्प को स्वीकार करने में एक और कठिनाई है कि यदि शब्द स्वतन्त्र रूप से अपने अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ होंगे तो इससे शब्दों का वैय्यर्थ्य भी सिद्ध होगा। इसके साथ ही साथ शब्द का वैय्यर्थ्य इससे भी सिद्ध होगा कि अर्थ के बोध के संकेत मात्र पर्याप्त होगा। अतः प्रथम विकल्प को स्वीकार नहीं किया जा सकता। जहाँ तक द्वितीय विकल्प का प्रश्न है वह भी समीचीन नहीं है। इसका कारण यह है कि जैसाकि द्वितीय विकल्प के अन्तर्गत कहा गया है शब्द क्रिया के सम्बन्ध से अपने अर्थ को अभिव्यक्त नहीं कर सकते। इस विषय में प्राभाकर मीमांसक शब्द के क्रिया के साथ विशेष व्यतिषंग के आधार पर भी शब्दार्थ की अभिव्यक्ति सिद्ध नहीं कर सकते। विशेष व्यतिषंग का अर्थ शब्द की विशेष शक्ति है। अतः यह द्वितीय विकल्प भी असंगत है।[2] प्राभाकर मीमांसक के तर्क के अनौचित्य मे और हेतु यह है और वह यह है कि प्राभाकार मीमांसक का कथन है कि यह नहीं कहना चाहिए कि शब्द का किसी अन्य शब्द से सम्बन्ध है तथा यह परस्पर सम्बद्ध होकर एक निश्चित अर्थ को

---

1. 'This conclusively proves that action which follows the information about the existent things is not in the import of the sentence which gives the information,'
—Balasubramanian, A Study of the Brahmasiddhi, p. 112

२. तावता प्रयोग प्रत्ययोरूपपत्तौ न विशेषव्यतिषङ्गे प्रमाणमस्ति।
—ब्र०सि० पृ० २६

बतलाता है, अपितु यह कहना चाहिए कि शब्द क्रिया से सम्बद्ध होकर अर्थ को अभिव्यक्त करता है किन्तु मीमांसक के मत के विरोध में यह कहा जाएगा कि क्रिया भी जो कर्म का निर्देश करती है, एक शब्द ही है अतः शब्द होने के कारण इसका दूसरी क्रिया से अन्वय सिद्ध नहीं हो सकता। संज्ञा का क्रिया से सम्बन्ध हो सकता है किन्तु क्रिया का क्रिया से सम्बन्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः वह क्रिया जो कर्म का निर्देश करती है उसका अन्वय दूसरे शब्दों के अर्थ से है।[1] अतः प्राभाकर मीमांसक का यह तर्क स्वीकार्य नहीं है, जिसके अनुसार वाक्य में शब्द का सम्बन्ध क्रियाविभक्ति कारक शब्द से है। मीमांसक की इस प्रक्रिया को कार्य व्यतिषंग कहा गया है। किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जहाँ मीमांसक अर्थान्तर-व्यतिषंग को स्वीकार करता है, वहाँ उससे अद्वैत वेदान्त का कोई विरोध नहीं है[2], क्योंकि अर्थान्तर व्यतिषंग के अनुसार शब्द का सम्बन्ध दूसरे शब्दों के अर्थ से स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त तीन विकल्पों में से प्रथम दो का अनौचित्य स्पष्ट है वस्तुतः तृतीय विकल्प ही समुचित है, जिसके अनुसार शब्द परस्पर संसर्ग से वाक्य के अन्तर्गत अर्थ का बोध कराते हैं तथा आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि आसक्ति के आधार पर उनका परस्पर संसर्ग स्थापित होता है। इस प्रकार शब्दों का अर्थ में परस्पर अन्योन्यसंसर्ग स्वीकार करना चाहिए।

संक्षेप में प्राभाकर मीमांसक के मत के विपरीत यह कहा जा सकता है कि वाक्य में आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि के आधार पर शब्द अन्योऽन्यसंसर्ग भाव से अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। मीमांसक का यह कथन अनुचित है कि वाक्य में सभी शब्दों का सम्बन्ध क्रिया से होता है। उदाहरणार्थ 'श्वेत गौ लाओ' इस वाक्य में श्वेत विशेषण का सम्बन्ध 'गौ' से है 'लाओ' से नहीं। यदि मीमांसक के कथनानुसार शब्दों का सम्बन्ध क्रिया से होगा तब तो शब्दों का परस्पर असंसर्ग होने के वाक्यार्थ का बोध नहीं होगा। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि नियोगपरक वाक्य के अन्तर्गत भी केवल धात्वर्थ का निर्देश ही उद्देश्य नहीं है, अपितु धात्वर्थ का कारक संसर्ग होने पर ही वाक्यार्थ बोध होता है। उदाहरणार्थ 'ज्योतिष्टोमेनयजेत स्वर्गकामः' इस निदर्शन के अन्तर्गत मात्र

---

१. ब्र०सि०, पृ० ६५

२. कल्पयत्यसौ अर्थान्तरव्यतिषंगम् तथा च विनाद्रि-कार्येण पदार्थानां परस्पर-संसर्गति विशिष्ट भूतार्थ प्रत्यय सिद्धिः।—ब्र०सि०, पृ० २६
तथा देखिए, अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० ११२

यजेत इस क्रिया से वाक्य के अभिप्रेत अर्थ को बोध नहीं होता, अपितु वाक्यार्थ का बोध तभी होता है, जबकि उसका संसर्ग 'स्वर्गकामः तथा 'ज्योतिष्टोमेन' के साथ समझा जाता है। कारक संसर्गमन्तरेण।[1] अतः यह कहना असमीचीन न होगा कि मीमांसक का शब्दों के परस्पर संसर्ग को स्वीकार किए बिना नियोगपरक वाक्यार्थ का बोध ग्रहण करना अनुचित है। इससे यह तथ्य सुस्पष्ट होता है कि मीमांसक द्वारा शब्दों के परस्पर संसर्ग के खण्डन की बात तो दूर है उसे स्वयं नियोग के लिए विनियोग (पदार्थों का परस्पर संसर्ग)[2] की अपेक्षा है।[3] इस प्रकार विनियोग द्वारा परस्पर अन्वित शब्द नियोगपरक है, ऐसा स्वीकार करना ही युक्त है। इस प्रकार इस विवेचन में यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द परस्पर सम्बद्ध होकर अपने अर्थ को स्पष्ट करते हैं, उन्हें कर्म के बोधक शब्द के संसर्ग की अपेक्षा नहीं होती। इससे यह आशय भी गृहीतव्य है कि आम्नाय क्रियापरक न होकर ब्रह्मज्ञान का बोधक है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का आगम द्वारा बाध—

ब्रह्म काण्ड के अन्तर्गत एक-रस अद्वैत तत्व की प्रतिपादना में वेदान्त प्रामाण्य का निरूपण किया गया है। किन्तु द्वितीय काण्ड के अन्तर्गत वेदान्त प्रामाण्य का प्रत्यक्ष आदि से विरोध प्रदर्शित करते हुए, सिद्धान्त मतानुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का आगम द्वारा बोध सिद्ध किया गया है। इस सम्बन्ध में यह पूर्वपक्ष प्रस्थापित किया गया है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा व्याकृत भाव स्वभावों का बोध होने के कारण अद्वैत तत्व के प्रतिपादन में शब्द प्रमाण को स्वीकार करना समुचित नहीं है क्योंकि अद्वैत के प्रतिपादक शब्द प्रमाण का प्रत्यक्ष आदि से विरोध है। इस स्थल पर अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने एक शंका प्रस्तुत करते हुए कहा है कि आम्नाय से विरोध होने के कारण प्रत्यक्षादि का ही अप्रामाण्य क्यों न स्वीकार किया जाए। इस विषय में समाधान प्रस्तुत करते हुए अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत कहा गया है कि प्रत्यक्ष में विरोध होने के कारण ऐसा नहीं माना जा सकता।[4] यह विरोध उसी प्रकार है, जिस

---

१. ब्र०सि०, पृ० ६६

२. विनियोग कारक-क्रिया भावलक्षणः पदार्थानां परस्परसंसर्गः।
—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० ११४

३. पूर्वस्तर्हि विनियोगः, पश्चान्नियोगः —ब्र०सि०, पृ० २६

४. आम्नायविरोधात् प्रत्यक्षादेरेवाप्रामाण्यं किं न स्यात् इति शंकायाम् दृष्ट विरोधान्नैवम्।—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० १४६

प्रकार यह कहना कि पत्थर पिघलते हैं (ग्रावाणः प्लवन्ते) तथा अन्धे पुरुष ने मणि को प्राप्त किया (अन्धो मणिमविन्दत्) । इसका आशय यह है कि प्रत्यक्ष में भिन्न-भिन्न वस्तुओं के दृष्टिगोचर होने पर उन्हें एकमात्र अद्वय स्वरूप कहना सर्वथा प्रत्यक्ष विरोधी एवं अनुचित है क्योंकि प्रत्यक्ष में सभी सांसारिक वस्तुओं का पृथक्-पृथक् बोध होता है । इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए कहा गया है—

आहुर्विधातु प्रत्यक्षं न निषेद्ध विपश्चितः ।
नैकत्व आगमस्तेन प्रत्यक्षेण विरूध्यते ॥[1]

अर्थात् प्रत्यक्ष का तो तद्तद् वस्तुओं का विधायकत्व ही सिद्ध है, निषेधकत्व नहीं । अतः आम्नाय का प्रत्यक्ष से विरोध नहीं सिद्ध किया जा सकता । अतएव ब्रह्मसिद्धि के व्याख्याकार शंखपाणि ने भी कहा है कि प्रत्यक्ष, वस्तु-स्वरूप-मात्र का ग्राहक है, अतः अद्वैत का पोषक 'एक एवायमद्वितीयः' इत्यादि आम्नाय का प्रत्यक्ष के द्वारा विरोध नहीं किया जा सकता ।[2] यहाँ अभिप्राय प्रकाशिकाकार का कथन है कि ग्रावादि दृष्टान्तों के पौरुषेय होने के कारण उनकी प्रत्यक्षादि सापेक्षता अपेक्षित है, किन्तु आम्नाय के सम्बन्ध में इस प्रकार की अपेक्षा नहीं है ।[3] इस प्रकार जिन ग्रावादि पौरुषेय वचनों के लिए प्रामाणन्तरों की अपेक्षा होती है, वहाँ विरोध होने के कारण अप्रामाणिकता का प्रश्न उपस्थित होता है । किन्तु जिस सर्वतन्त्र स्वतन्त्र आम्नाय के लिए प्रामाणान्तर की अपेक्षा नहीं होती, वहाँ विरोध होने पर भी आम्नाय की अप्रामाणिकता का अवसर किस प्रकार उपस्थित होगा ? ऐसा पूर्वपक्षी का मत है । यह क्यों नहीं स्वीकार करना चाहिए कि आम्नाय से विरोध होने के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाण प्रमाणता के योग्य नहीं रह जाते या फिर यह भी कहा जा सकता है कि आम्नाय एवं प्रत्यक्ष में समान रूप से एक दूसरे की अनपेक्षा होने के कारण प्रामाणान्तर के विरोध के परिहार के लिए किया गया परिश्रम व्यर्थ ही है । इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत मिलते हैं जिनमें से प्रमुख मत इस प्रकार हैं—

---

१. ब्र०सि० २-४

२. अपितु वस्तुस्वरूपमात्रस्य विधातु ग्राहकम्, तेन हेतुना एकत्वे द्वयविषये योयम् 'एकः एवायमद्वितीयः' इत्यादिरामान्यः स प्रत्यक्षेण न विरुध्यते ।
—शंखपाणि, ब्रह्मसिद्धि व्याख्या, पृ० १०७

३. मैवम्, ग्रावादिवाक्यस्य पौरूषेयतया प्रत्यक्षादिसापेक्षत्वात् इह पुनः तदभावात् ।—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० १५०

१. कुछ विद्वानों का मत है कि प्रत्यक्षादि के विरोध से सापेक्षता के कारण आम्नाय की दुर्बलता सिद्ध होती है, क्योंकि स्वरूप-सिद्धि के लिए आम्नाय को प्रत्यक्षादि की अपेक्षा है। इसीलिए प्रत्यक्षादि का प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिए। और यदि प्रत्यक्षादि का बोध स्वीकार किया जाएगा तब तो आम्नाय का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होगा। अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि अर्थ के बोधक आम्नाय के स्वरूप का पहले श्रावण प्रत्यक्ष के द्वारा बोध होता है।[1] अतः यदि श्रावण प्रत्यक्ष नहीं होगा तो आम्नाय के स्वरूप की सिद्धि ही नहीं होगी अर्थ बोध तो दूर की बात है। इस प्रकार आम्नायार्थ बोध के लिए प्रत्यक्षादि की अपेक्षा निश्चित ही है। किन्तु प्रत्यक्षादि के लिए आम्नाय की अपेक्षा नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष की अपेक्षा आम्नाय दुर्बल है। आम्नाय की दुर्बलता का यह भी कारण है कि आम्नाय में व्यभिचार देखा जाता है तथा प्रत्यक्ष में व्यभिचार नहीं देखा जाता। व्यभिचार को स्पष्ट करने के लिए अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने कहा है कि नदी के तट पर पांच फल हैं, इस अनाप्त प्रयोग में अर्थ (विषय) का दर्शन होने के कारण अर्थ व्यभिचार देखा जाता है, आम्नाय वाक्यों में भी इसी प्रकार का अर्थ व्यभिचार देखने में आता है। किन्तु प्रत्यक्ष से सम्बन्ध में विषय प्रत्यक्ष होने के कारण अर्थ व्यभिचार नहीं कहा जाता।[2] एक और दृष्टि से भी आगम का प्रत्यक्ष द्वारा बाध सिद्ध होता है। वह इस प्रकार है कि सावकाश एवं अनवकाश में अनवकाश बलवान् होता है एवं प्रत्यक्षादि अनवकाश हैं तथा शब्द सावकाश। एकत्व की प्रतिपादक श्रुतियों का सावकाशत्व इसी से स्पष्ट है कि वेदान्त के रहस्यमय वाक्यों की प्रणवादि के समान जपनीयता सिद्ध है।[3] एक और कारण से भी आम्नाय की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्राबल्य है, वह यह है कि आम्नाय में व्याकुलत्व देखने में आता है तथा प्रत्यक्षादि में अव्याकुलत्व। व्याकुलत्व परम्परा का आघात है।[4] यह परम्परा

---

१. अर्थनिश्चायकाम्नाय-स्वरूपस्य प्रथमं श्रोतृप्रत्यक्षावगतस्य सम्बन्धग्रहेऽनुमानार्थापत्योरूपयोगादस्ति प्रत्यक्षाद्यपेक्षेत्यर्थः।
—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० १५०

२. 'नद्यास्तीरे पञ्चफलानि सन्ति' इत्यानाप्तप्रयोगेऽर्थादर्शनाद् दृष्टोऽर्थव्यभिचारः।—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० १५०

३. वेदान्तानां रहस्यतया प्रणवादिवतज्जप्यत्वात्।
—अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० १५१

४. परम्पराहृतिलक्षणम् व्याकुलत्वमेव दर्शयति।
—अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० १५०

आघात इसलिए है कि कर्म विधि का आधार साध्य साधनादि भेद है किन्तु वेदान्त अभेद अर्थात् अद्वैत का प्रतिपादक है। इस प्रकार वेदान्त में परस्पर व्याघात होने के कारण प्रामाण्य दुर्लभ है।[1] आम्नाय की दुर्बलता एवं प्रत्यक्ष की प्रबलता में एक और हेतु है और वह यह कि प्रत्यक्ष आदि मुख्य हैं तथा उनका प्राथम्य है। अतः उनके द्वारा आम्नाय का बाध होता है। प्राथम्य इसलिए है कि इस संसार में जन्म लेने पर पहले प्रत्यक्ष से ही सम्पर्क होता है। इसके पश्चात् आम्नाय के बोध का प्रश्न उपस्थित होता है।[2] प्रत्यक्ष की प्रबलता एवं आम्नाय की दुर्बलता में एक और हेतु है। वह यह कि अर्थ बोध के निमित्त आम्नाय के लिए प्रत्यक्षादि की अपेक्षता है। अतः प्रत्यक्ष आदि उपजीव्य है।[3] शंखपाणि का कथन है कि पद-पदार्थ का ज्ञान होने पर ही आम्नाय के अर्थ का बोध होता है और वह पद-पदार्थ विभाग प्रत्यक्ष आदि के अधीन है। इस प्रकार प्रत्यक्ष आदि का विषय पद-पदार्थ-भेद पूर्वभावी है एवं आम्नाय द्वारा सिद्ध अभेद अथवा अद्वैत पश्चात्भावी। इस प्रकार विषय की मुख्यता की दृष्टि से भी प्रत्यक्ष आदि की मुख्यता है आम्नाय की नहीं।

इस प्रकार उपर्युक्त विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि आम्नाय की अपेक्षा प्रत्यक्षादि का प्राबल्य है तथा आम्नाय का प्रामाण्य सिद्ध नहीं है।[4]

२. कुछ विद्वानों का विचार है कि प्रत्यक्ष एवं आम्नाय में तुल्यबलता होने पर भी इन दोनों में विरोध होने पर द्वैत एवं अद्वैत का संशय होगा तथा निर्णयात्मक स्थिति का निर्धारण नहीं हो सकेगा। यदि यह कहा जाय कि षोडशी ग्रहण आदि के समान द्वैत अद्वैत रूप संशय न होकर विकल्प होगा तो यह कथन समुचित नहीं है, क्योंकि करिष्माण क्रिया में ही विकल्प की सिद्धि

---

१. अतः परस्परव्याघातादेव तावत् वेदान्ताः दुर्लभप्रामाण्याः।
—शंखपाणि-कृत ब्रह्मसिद्ध व्याख्या, पृ० १०८

२. मुख्या हि प्रत्यक्षादयः, जातस्य जन्तोरपरकाल आम्नायः।
—ब्र०सि०, पृ० ३९

३. अर्थप्रमितावामायेनोपजीव्यत्वाद्।—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० १५०

४. पदपदार्थविभागे ज्ञाते सत्याम्नायार्थस्य परिच्छेदः, स च पदपदार्थ विभागः प्रत्यक्षादिष्वायत्तः ..... यतो मुख्यत्वेन बलीयसा प्रत्यक्षादिना विरोधे नाम्नायस्य प्रामाण्यं स्यातदो।
—शंखपाणिकृत ब्रह्मसिद्धि व्याख्या, पृ० १०९

संभव है, वस्तु में नहीं। इससे यह निष्कर्ष निकता है कि अद्वैत एवं सिद्ध वस्तु स्वरूप ब्रह्म के सम्बन्ध में यह विकल्प संभव नहीं है।[1]

३. अभिप्राय प्रकाशिकाकार का कथन है कि विचार करने पर आम्नाय की ही बलवत्ता सिद्ध होती है, यही सिद्धान्त मत है।[2] इस प्रकार सिद्धान्त मत के अनुसार प्रत्यक्ष एवं आम्नाय ही बलवान् सिद्ध होता है। इसीलिए मीमांसा सूत्र में कहा गया है कि पौर्वापर्य में पूर्व का दौर्बल्य सिद्ध होता है।[3] इसी प्रकार श्लोकवार्तिक के अन्तर्गत भी कहा गया है कि जब तक पूर्व का बाध नहीं होता तब तक उत्तर की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। अतः यहाँ द्वैत का बाध होने पर अद्वैत की सिद्धि समझनी चाहिए। मीमांसा सूत्र के आधार पर पौर्वापर्य में पूर्व दौर्बल्य को एक वैदिक सोमयाग के उदाहरण के आधार पर इस प्रकार समझना चाहिए—

"निष्क्रमण करने वाले अध्वर्यु को प्रस्तोता झुकाए (सन्तनुयात्), प्रस्तोता को उद्गाता झुकाए, उद्गाता को प्रतिहर्ता झुकाए, प्रतिहर्ता को ब्रह्मा झुकाए तथा ब्रह्मा को यजमान झुकाए" इस प्रकार सोमयाग में एक दूसरे का हाथ पकड़कर झुके हुए ऋत्विजों का यज्ञशाला से निष्क्रमण सुना जाता है। इस स्थल पर नैमित्तिक का विधान करते हुए अभिप्रायप्रकाशिकाकार कहते हैं कि प्रतिहर्ता तथा उद्गाता का क्रम से विच्छेद होने पर क्या प्रथम अपने प्रायश्चित को प्रयोजित करता है अथवा उत्तर। इस विषय में यह कहा जाएगा कि पूर्व का कोई विरोध न होने के कारण तथा उत्तर का विरोध होने के कारण पूर्व अर्थात् पहला ही प्रायश्चित को प्रयोजित करता है, उत्तर नहीं। ऐसा प्रकरण उपस्थित होने पर ही यह कहा गया है कि—पौर्वापर्य होने पर पूर्व का प्रकृति के समान दौर्बल्य होता है।[4] प्रकृति-वत् दौर्बल्य का आशय यह है कि पौर्वापर्य होने पर नैमित्तिक द्वय में पूर्व का दौर्बल्य होता है, तथा पूर्व का उपमर्दन किए बिना उत्तरवर्ती की उत्पत्ति संभव नहीं है। अतः प्रकृति के समान पूर्व का ही

---

१. करिष्यमाणत्वात् अनुष्ठानं विकल्प्यते न तु सिद्धं वस्तु।
—शंखपाणि ब्रह्मसिद्धि व्याख्या, पृ० १०९

२. विचार्यमाणे पुनराम्नाय एव बलवान्। —अभिप्रायप्रकाशिका, पृ०१५२

३. मीमांसा सूत्र ६-५-५४

४. प्रतिहर्तुरूदातुश्च क्रमेण विच्छेदे किं पूर्वं स्वकीयं प्रायश्चितं प्रयोजयति? आहोस्विदुत्तरम्? इति तत्र पूर्वस्यासंजातविरोधित्वादुत्तरस्य च संजातविरोधित्वात् पूर्वमेव प्रयोजयति।
—अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० १५३

बाध होता है। प्रकृति की समानता से यह आशय है कि जिस प्रकार प्राकृत कुश विकृत होने पर अति देश को प्राप्त होकर वाणों के (अपोद्यन्ते) द्वारा उखाड़ कर फेंक दिए जाते हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त सोमयाग के उदाहरण में भी समझना चाहिए।

अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने प्रस्तुत प्रकरण को विशद करते हुए लिखा है कि दो निमित्तों में पौर्वापर्य होने पर पूर्व का दौर्बल्य सिद्ध होता है तथा उत्तर का प्राबल्य। पूर्व की बलवत्ता उसी समय होती है जहाँ पूर्व की अपेक्षा करके उत्तर प्रवृत्त होता है। प्रस्तुत उदाहरण में उत्तर, पूर्व की अपेक्षा न करते हुए उत्तर प्रवृत्तमान विरोधी का उपमर्दन किए बिना उदित होने में समर्थ नहीं है। अतः उत्तर ही प्रबल है तथा वही स्वात्मीय प्रायश्चित्त को प्रयोजित करता है।[1]

पूर्व एवं पर के बलीयस्त्व को लेकर यह प्रश्न भी किया जाता है कि 'श्रुतिलिङ्-वचन' इत्यादि। कथन के आधार पर 'पर' की अपेक्षा पूर्व की बलवत्ता कही गई है। प्रकृत प्रकरण में भी आम्नाय की अपेक्षा प्रत्यक्ष का प्राबल्य समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह कहा जाएगा कि श्रुति-लिंग आदि में पूर्व शीघ्र भावी होने के कारण अप्राप्त 'पर' को बाधते हैं। अतः वहाँ पौर्वापर्य की स्थिति ही नहीं है, क्योंकि वहां 'पर' अनुत्पन्न ही है, किन्तु प्रत्यक्ष एवं आम्नाय के सम्बन्ध में विपरीत स्थिति है, क्योंकि यहाँ तो 'पर' भी प्रत्यक्ष ही श्रुति प्राप्त है। इस प्रकार यहां पूर्व की ही दुर्बलता कही जाएगी।

आम्नाय एवं प्रत्यक्ष की सदोषता एवं निर्दोषता के सम्बन्ध में विचार करते हुय यह कहा जाएगा कि आम्नाय के पाधार पर ही भ्रम के हेतु अविद्या संस्कार की संभावना तथा निश्चय प्रत्यक्ष आदि में ही सम्भव है, आम्नाय में नहीं। यदि कहा जाय कि सदोष अम्नाय में तत्वाज्ञान (तत्व-अवेदन) लक्षण प्रामाण्य तो होगा ही, साथ ही प्रत्यक्ष आदि के समान व्यावहारिक प्रामाण्य भी होगा तो यह उचित नहीं है। इसमें अदृष्टार्थत्व (अदृष्टः अर्थो: विषयो यस्य) हेतु है। इस सम्बन्ध में शङ्खपाणि का कथन है कि प्रत्यक्षादि के

---

१. पौर्वापर्ये सति विमित्तयोः, पूर्वस्य दौर्बल्यम्, उत्तरस्य च प्राबल्यम्। तत्र हि पूर्वस्य बलवत्वं भवति, यत्र पूर्वापेक्षयोत्तरं प्रवर्तते, अत्र पुनर्निरपेक्षमुत्तरं प्रवर्तमानं विरोधिनमनुपमृद्य नोदेतुमर्हति, तेनोत्तरमेव प्रबलं स्वात्मीयमेव प्रायश्चित्तं प्रयोजयति।—अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० १५३

सम्बन्ध में व्यवहार का विपर्यय न होने के कारण व्यावहारिक प्रामाण्य समुचित है, किन्तु आम्नाय में विषय के अदृष्ट होने के कारण व्यवहार के समर्थक ज्ञान की स्थिति नहीं है।[1] अतः आम्नाय का व्यावहारिक प्रामाण्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस विषय में अभिप्राय प्रकाशिकाकार चित्सुखाचार्य ने भी कहा है कि आगम के विषय अद्वैत की व्यावहारिक योग्यता न होने के कारण उसका व्यावहारिक प्रामाण्य नहीं सिद्ध हो सकता।[2] एक और हेतु से भी शब्द की सदोषता में व्यावहारिक प्रामाण्य का निश्चय नहीं किया जा सकता और वह यह है कि दोषों से व्यवहार विसंवादी ज्ञान का ज्ञान देखा जाता है। प्रत्यक्ष आदि के सम्बन्ध में यहाँ कहा जाएगा कि व्यवहार में संवाद होने के कारण व्यवहार विसंवादी ज्ञान हेतु रूप दोष की कल्पना नहीं की जा सकती। जहाँ तक वेदान्त सिद्ध तत्त्व दर्शन का प्रश्न है, उसके प्रतिपक्षी होने के कारण अनादि अविद्या का सम्बन्ध तत्व ज्ञान की बाधा का हेतु है। अतः दोषानुबन्ध एवं प्रामाण्य में विरोध नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक शब्द की बात है, उसमें यदि दोष की संभावना की जाएगी तो प्रामाण्य दुर्लभ ही होगा। यहाँ यह भी वक्तव्य है कि दोषों से व्यवहार विसंवादी ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है। शब्द का प्रामाण्य स्वीकार करने पर प्रामाणान्तर से विरोध होने पर भी उसी की बलवत्ता स्वीकार करनी चाहिए।

स्वतः प्रामाण्य का सिद्धान्त

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत मीमांसक का स्वतः प्रमाण्यवाद प्रख्यात सिद्धान्त है। किन्तु प्रकृत स्थल पर जिस स्वतः प्रामाण्य सिद्धान्त की विवेचना की जाएगी वह मीमांसक के स्वतः प्रामाण्यवाद से भिन्न है। तर्कभाषा के अनुसार ज्ञान की यथार्थता ही उसका प्रामाण्य है।[3] इस प्रकार प्रामाण्य के अंतर्गत ज्ञान की यथार्थता एवं अयथार्थता का निश्चय किया जाता है। इस सम्बन्ध में स्वतः प्रामाण्यवाद एवं परतः प्रामाण्यवाद के रूप में दो सिद्धान्त प्रचलित है। स्वतः प्रामाण्यवादी मीमांसक है तथा परतः प्रामाण्यवादी नैयायिक। स्वतः

---

१. प्रत्यक्षादिषु व्यवहारविपर्ययादर्शनात् व्यावहारिकं प्रामाण्यं युक्तम्, आम्नायस्य त्वदृष्टार्थत्वात् न तद्व्यवहाराविपर्ययज्ञानमस्ति, अतो न तस्य व्यावहारिकमपि प्रामाण्यमित्यर्थः।

—शङ्खपाणि, ब्रह्मसिद्धि व्याख्या, पृ० ११३

२. आगमविषयाद्वैतस्य व्यवहारायोग्यत्वाद् व्यावहारिकप्रामाण्यामपि न सिध्येत्।—अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० १५५

प्रामाण्यवाद के अन्तर्गत स्वतस्त्व दो प्रकार का है, एक उत्पत्ति परक स्वतस्त्व और दूसरा ज्ञप्तिपरक स्वतस्त्व उत्पत्ति परक स्वतस्त्व का तात्पर्य यह है कि जिस कारण सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य भी भिन्न होता है। ज्ञप्तिपरक स्वतस्त्व का तात्पर्य यह है कि जिस साधन के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है, उसके द्वारा ही ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय होता है। तर्कभाषाकार केशवमिश्र के अनुसार ज्ञान के साथ ही उसके प्रामाण्य का भी स्वतः ज्ञान हो जाता है।[2] ज्ञप्ति की दृष्टि से यही स्वतः प्रामाण्यवाद है।[3] जहाँ तक परतः प्रामाण्यवाद का प्रश्न है, यह भी दो प्रकार का है, एक उत्पत्तिगत परतस्त्व तथा दूसरा व्यक्तिगत परतस्त्व। यहाँ इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन-विवेचन अनभीष्ट होने के कारण नहीं किया जा रहा है।

प्रस्तुत स्वतः प्रामाण्यवाद का सन्दर्भ प्रत्यक्ष की अपेक्षा वस्तु स्वरूप ब्रह्म के समर्थक की प्रबलता है, जिसका विवेचन अभी इसी अध्याय के अन्तर्गत किया गया है। जैसाकि अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने स्पष्ट रूप से कहा है, आम्नायवर्ती वेदान्त के सिद्धान्त पारमार्थिक अद्वैत ब्रह्म में ही सावकाश है, किन्तु प्रत्यक्ष आदि का प्रामाण्य व्यावहारिक है। अतः उसे प्रामाणान्तर की अपेक्षा है। किन्तु स्वतः प्रामाण्यवाद के लिए प्रामाणान्तर की अपेक्षा नहीं है। इसका कारण यह है कि स्वतः प्रामाण्य लौकिक वाक्यों पर आधारित न होकर अपौरूषेय आम्नाय पर आधारित है। इस प्रकार आम्नाय एवं प्रत्यक्ष में अनपेक्षता समान नहीं है। ज्ञान के स्वतस्त्व के सम्बन्ध में दृष्टान्त देते हुए शङ्खपाणि ने कहा है कि घट वस्तु पर अर्थात् पट से भिन्न है किन्तु स्व से नहीं, स्वयं तो वह एक ही है।[4] अतः जैसे घट का स्वतस्त्व सिद्ध है, इसी प्रकार आम्नाय सिद्ध वस्तु स्वरूप ब्रह्म ज्ञान भी स्वतः प्रामाण्य स्वरूप है। इस प्रकार स्वतः प्रामाण्य का विश्लेषण करते हुए शङ्खपाणि ने पुनः कहा है कि पुरुष के प्रत्यय के अनुरूप वस्तु स्वरूप की व्यवस्था न होकर, वस्तु स्वरूप के

---

१. ज्ञानस्य याथार्थ्यं लक्षसा प्रामाण्यम्। —तर्कभाषा, पृ० १५५

२. ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं स्वतस्त्वम्। केशवमिश्रः तर्कभाषा प्रामाण्यवाद।

३. विशेष देखिये, नन्दकिशोर शर्मा, भारतीय दार्शनिक समस्याएँ, पृ० ८६

४. घट वस्तु परतः पटात् भिन्नम्, न तु स्वतः, स्वयं त्वेकमेव।
—ब्रह्मसिद्धिव्याख्या, पृ० १८५

अनुरूप पुरुष प्रत्यय की व्यवस्था ही उचित है।[1] यहाँ अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने प्रत्यय का अर्थ अन्तःकरण किया है।[2] इससे यह सिद्ध होता है कि स्वभाव सत्य वस्तु के लिए वस्त्वन्तर की अपेक्षा कथमपि स्वीकार नहीं की जा सकती,[3] क्योंकि अपेक्षा वस्तु का धर्म नहीं है।[4] इस प्रकार स्वतः प्रामाण्यवाद के अनुसार वस्तु स्वरूप ज्ञान का इतर प्रामाण्य अपेक्षित न होकर, स्वतः प्रामाण्य स्वीकार किया गया है।

कर्मविधि एवं वेदान्त का अविरोध

यद्यपि मीमांसा दर्शन के द्वारा प्रतिपाद्य कर्म विधि तथा आम्नाय द्वारा अनुमोदित वेदान्त सिद्धान्तों में भेद की प्रतीति होती दिखाई पड़ती है, किन्तु यह वास्तविक नहीं है। इनमें परस्पर व्याकुलत्व न होकर अविरोध समझना चाहिए, क्योंकि व्यावहारिक प्रामाण्य तथा पारमार्थिक प्रामाण्य में विरोध है। अतएव अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत कर्म काण्ड एवं ज्ञान काण्ड में परस्पर बाध एवं विरोध का खण्डन किया गया है।[5] इस सम्बन्ध में यह शंका की जाती है कि कर्म विधि एवं आम्नाय के अन्तर्गत विरुद्धार्थ होने के कारण तथा कर्म विधि की अपेक्षा आम्नाय की बलवत्ता होने से दोनों में बाध्यबाधक भाव स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में यह समाधान प्रस्तुत करना उचित होगा कि वस्तुतः इन दोनों में न विरोध है न भेद और न बाध। इसका कारण यह है कि विभिन्न कर्म विधियाँ जो 'इदम् इत्थम्' के रूप में भेदाश्रित तथा परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं, पुरुषहितानुशासन-प्रधान है अर्थात् उन भिन्न-भिन्न कर्म विधियों (ज्योतिष्टोमेन यजेत आदि) के द्वारा तत्तद् अनुशासन की व्यवस्था की गई है। इस सम्बन्ध में यह पूर्वपक्ष स्थापित किया जाता है कि जैसा कि अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने कहा है कि यदि कर्म एवं ज्ञान में अविरोध एवं अभेद माना जाएगा तो अंशत्रय के लीन हो जाने के कारण हितानुशासन का अवसर कहा आएगा।[6] क्योंकि अंत्रशय--विशिष्ट भावना बोधकत्व के बिना

---

१. अतो न पुरुषप्रत्ययानुरूपेण वस्तुस्वरूपव्यवस्थेत्याह वस्तुस्वरूपानुरूपैव तु पुरुषप्रत्ययस्य व्यवस्थोचिता। —ब्र०सि० पृ० १८६

२. प्रत्ययः अन्तःकरणम्। —अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० १८५

३. पौरूषेयीमपेक्षां च न हि वस्त्वनुवर्तते। —ब्र०सि० ८ १/२ कारिका

४. न अपेक्षानाम कश्चिद्वस्तु धर्मः। —ब्र०सि० पृ० ४८

५. एवं कर्मज्ञानकाण्डयोः परस्पराहतिम् निरस्योपसंहरति।
—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० १३१

६. असति भेदे शत्रयप्रत्यस्तमयात् कुतो हितानुशासनम्। —ब्र०सि० पृ० ४३

भेद की सिद्धि नहीं हो सकती।[1] इस सम्बन्ध में ब्रह्मसिद्धिकार का कथन है कि "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" के द्वारा हिंसा का प्रतिषेध होने पर साध्यांश के भी लीन हो जाने पर अनुशासन की व्यवस्था होती है। जैसाकि अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने भी कहा है कस्यचिदधिकारिणो हिंसापि भवति साध्या।[2] जहाँ तक अंशत्रय के लीन होने पर हितानुशासन की असंभावना का प्रश्न है, यह कहना अपेक्षित है कि ज्योतिष्टोम आदि कर्मविधि का उपदेश नैसर्गिकी अविद्या से उपहित एवं अप्रतिबुद्ध अज्ञानियों के लिए है। अतः उनके लिए अविद्या द्वारा प्रदर्शित अंत्रशय की स्थिति रहती ही है तथा उन्हीं के आधार पर कर्माश्रित अज्ञानियों के अनुशासन के रूप में "श्येनेनाभिचरन् यजेत", "सन्दंशेनाभिचरन् यजेत्" तथा "गवा यजेत" आदि की व्यवस्था की गई है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन कर्म विधियों में यद्यपि भेद की प्रतीति होती है, किन्तु वस्तुतः उनकी प्रामाणिकता उसी प्रकार नहीं है, जिस प्रकार वृत्तांतों में अर्थवाद पदों की प्रामाणिकता नहीं होती। इस प्रकार संक्षेपतः यह कहा जाएगा कि कर्मविधि का उपदेश अविद्यावान् के लिए है, आत्मत्वज्ञानी के लिए नहीं तथा जैसा कि ऊपर कहा गया है, अंशत्रय की सत्ता भी अविद्या कल्पित होने के कारण अज्ञानी के लिए ही है। इस सम्बन्ध में यह शंका की जाती है कि जब तत्वज्ञानी के लिए अविद्या कल्पित अंशत्रय की सत्ता नहीं है तो फिर कर्म विधि से उसका सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है। इस शंका का समाधान करते हुए शङ्खपाणि ने कहा है कि जिन तत्वज्ञानियों ने आत्मतत्व का बोध प्राप्त कर लिया है, वे अंशत्रय[3] को असत् तथा आत्मा को अकर्ता मानते हुए, कर्म विधियों से अनुशासित नहीं होते। अतः स्पष्ट ही उन्हें अंशत्रय की अपेक्षा नहीं।[4] इस सम्बन्ध में ब्रह्मसिद्धिकार ने भी कहा है

---

१. यागेन प्रयाजद्यनुगृहीतेन स्वर्गं भावयेदित्यंशत्रयविशिष्टभावनाबोधकत्व-मन्तरेण भेदमनुपपन्नम्। —ब्र०सि० पृ० १६४

२. अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० १६४

३. अंशत्रय के अन्तर्गत (१) वस्तु स्वरूप विधि (यह घट है),
(२) वस्त्वन्तर का व्यवच्छेद (यह (घट) पट नहीं है),
(३) अभयत्व (वस्तु स्वरूप विधि तथा वस्त्वन्तर दोनों का होना) अर्थात् ग्रहण एवं व्यवच्छेद आते हैं।

४. साक्षात्कृताद्वयात्मतत्वास्त्वंशत्रयमसत् आत्मानं वा अकर्तारं मन्वानाः कर्म-विधिश्रिनुशिष्यन्ते, तेन तान् प्रति किमंशत्रयसत्वेनेत्यर्थः।
—ब्र०सि०, पृ० १२५

कि तत्वज्ञानी कर्मविधियों से उसी प्रकार अनुशासित नहीं होते जैसे श्येन आदि विधियों से, जिनका क्रोध शान्त हो गया है, ऐसे ज्ञानी अनुशासित नहीं होते। इस प्रकार अभिप्रायप्रकाशिका का यह अभिप्राय बोध्य है कि कर्म विधि आत्मज्ञान का अंग नहीं है अतः उनका अवान्तर फल साधनत्व भी निषिद्ध ही समझना चाहिए।[1] इस सम्बन्ध में अभिप्रायप्रकाशिका के अन्तर्गत यह शंका प्रस्तुत की गई है किस प्रकार प्रयाज (प्रधान यज्ञ सम्बन्धी एक अनुष्ठान) आदि दर्शपूर्णमास रूप अपूर्वकारियों के अंग बनते हैं, उसी प्रकार कर्मविधियां भी जिनका फल स्वर्ग आदि है, आत्मज्ञान के अंग किस प्रकार नहीं हो सकतीं। इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत कहा गया है कि उपर्युक्त उदाहरण में प्रकरण से प्राप्त दर्श एवं पूर्वभास की अंगता के निर्वाह के लिए प्रयाजादि की अंगता स्वीकार की जाती है, किन्तु जहाँ तक कर्मविधियों का प्रश्न है ये स्वर्ग आदि फल का हेतु तो है, किन्तु आत्मज्ञान के लिए इनकी हेतुता कदाचित् स्वीकार नहीं की जा सकती।[2] इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमार्थतः कर्मविधि एवं आम्नाय सिद्ध वेदान्त प्रतिपाद्य तत्वज्ञान या आत्मज्ञान में अविरोध है। किन्तु इससे यह अर्थ कदापि नहीं ग्रहण करना चाहिए कि कर्मविधि वेदान्त प्रतिपाद्य आत्मज्ञान की अंग अथवा साधन है। वेदान्त दर्शन के शिरोमणि आचार्य शंकराचार्य ने भी उपासना आदि कर्मों की चित्तशुद्धि के लिए ही अंगता स्वीकार की है, तत्वज्ञान के लिए नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार दर्पण में मुखदर्शन के लिए दर्पण की स्वक्षता अपेक्षित है, उसी प्रकार आत्मसाक्षातकार के लिए चित्त का स्वच्छ होना अपेक्षित है।[3] यह चित्तशुद्धि उपासना आदि कर्मों के द्वारा ही संभव है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म विधि एवं वेदान्त में वस्तुतः अविरोध ही है।

---

१. कर्मविधीनामात्मज्ञानविधिशेषत्वे तत्र तत्र फलश्रुतीनाम् "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं श्रणोति" इत्यादिवदर्थवादत्वोपपत्तेर्न नियमेनावान्तरफलसाधनत्वम्। —अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० १२३

२. प्रयाजादेः प्रकरणावगतदर्श-पूर्णमासाङ्गत्वनिर्वाहायावान्तरापूर्वद्वारेण युक्ता प्रधानापूर्वांगता, अन्यथाऽश्रुतरविनाशितया प्रमिताङ्गित्वस्यं वायोगात्, इह तु कर्मविधीनां श्रूयमाणस्वर्गादिफलवत्या निराकङ्क्षाणामसत्यङ्गत्वे नात्मज्ञानकार्यानुप्रवेशित्वमित्यर्थः।—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० १२३

३. स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत्, शंकराचार्य, आत्मबोध, पृ० ५४

अनेकान्तवाद का निरसन

पृष्ठभूमि—

अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने तर्क काण्ड के अन्तर्गत प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध भेद का निराकरण कर आम्नाय सिद्ध वस्तु ज्ञान अथवा परमार्थ ज्ञान की बलवत्ता सिद्ध की है। इसी प्रधान विचार शृखला के अन्तर्गत अभिप्राय प्रकाशिका के लेखक चित्सुख ने समस्त भेद को वास्तविक न कहकर कल्पना का विषय मात्र कहा है।[1] इस प्रकार सत्तावाद की स्थापना करते हुए अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने ब्रह्मसिद्धि के आधार पर विभिन्न युक्तियाँ प्रदर्शित करते हुए अनेकान्तवाद का खण्डन किया है। सत्तावाद को ही वस्तुवाद भी कहते हैं। सद्वाद भी इसी का अपर पर्याय है। यदि हम इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम आधार 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'[2] इस ऋग्वेद वचन को मानें, तो अनुचित न होगा। भारतीय दर्शन के प्राचीन आचार्य गौडपाद का अजातवाद सिद्धान्त भी इस सद्वाद का मूल कहा जा सकता है।[3] महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री ने भावशुद्धि तथा अभिप्राय प्रकाशिका की भूमिका के अन्तर्गत भी गौडपाद के अजातवाद को ही, जिसकी आधार भूमि सत् है, उपर्युक्त सद्वाद का मूल माना है।[4]

सद्वाद सिद्धान्त के अनुसार 'सत्घटः' इत्यादि प्रतीति सामानाधिकरण्य स्वरूप प्रतीति होते हुए अधिष्ठान रूप सत् तथा अर्थस्वरूप घट (सदर्थ) इन दोनों के ही तादत्म्य का बोध कराती है। अतः यह आक्षेप सर्वथा अनुचित होगा कि सत् के समस्त विषयों का अधिष्ठान होने के कारण घट पट आदि समस्त भावों में अभेद है। निश्चय ही, अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत सद्वाद के आधार पर अद्वैतवाद एवं अभेद सिद्धान्त की स्थापना की हुई है, किन्तु इसका तात्पर्य व्यवहार सिद्ध घटपटादि के भेद के निराकरण से कदापि नहीं है। जहाँ

---

१. अद्वैतमापादयता तद्बुद्धयवतारोपायत्वात् कल्पनाविषयो भेदोऽभ्युपेयः, न तु वास्तव इति परिहरति।—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० २५८

२. ऋग्वेद १-१६४-४६

३. विशेष देखिए, राममूर्ति शर्मा का लेख-वेदान्ते सद्वादः (श्री परमेश्वरानन्द शास्त्री अभिनन्दन ग्रंथ के अन्तर्गत प्रकाशित)

४. अस्य च तत्वस्य मूलं गौड़पादानामजातवादगम्—'सद्वपेण हाजं सर्वमि ति वचनमेव। —म०म० अनन्तकृष्ण शास्त्री, भावशुद्धि, अभिप्राय प्रकाशिका, भूमिका, पृ० ३७

तक अद्वैतवाद की परम्परा में अभेद प्रतीति का प्रश्न है, इसका तो यही आशय है कि घटादि समस्त भावों का सत् तत्व के साथ तादात्म्य होने के कारण अभेद अथवा अद्वैत की प्रतीति होती है। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र के अध्याय भाष्य के अनुसार अधिष्ठान रूप सत् अंश ही ज्ञान मात्र का प्रामाण्य है तथा उसमें अध्यस्त घटपटादि भेद तो परमार्थ में भ्रम मात्र हैं। अनन्तकृष्ण शास्त्री का कथन है कि इस विषय का प्रतिपादन ब्रह्मसिद्धि को छोड़कर कोई भी निबंध ग्रन्थ प्रतिपादन नहीं करता। शास्त्री जी ने यह भी कहा है कि तत्व-शुद्धि के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के निबंधों में भी इसका प्रतिपादन नहीं मिलता तथा न्यायमृत एवं न्यायसुधा आदि द्वैत ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख नहीं है।[1] यहाँ यह कहना असमीचीन नहीं होगा कि उपर्युक्त सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या तो नहीं, किन्तु सिद्धान्त बीज गौडपाद कारिका आदि ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से मिलते हैं। इस सम्बन्ध में गौड़पाद कारिका के निम्नलिखित अंश को उद्धृत किया जा सकता है जिसके अनुसार परमार्थ सत्य रूप सत् से माया के द्वारा जगत् की सृष्टि होती है जो अतात्विक एवं भ्रममात्र है—

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्वतः।[2]

उपर्युक्त कारिकांश के अन्तर्गत 'सतः' को षष्ठ्यन्त स्वीकार करते हुए उसका 'वर्तमान जगत्' का अर्थ भी ग्रहण किया गया है। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में दोनों ही अर्थों का उल्लेख किया है।

अग्राह्यस्यापि सत एवात्मनो रज्जुसर्पज्जगद्रूपेण
मायया जन्म युज्यते।
यदि वाऽखिलभावानामभदा तदत्वतः।
अभेदवादाश्रयणं स्यादन्यविधया गिरा॥[3]

यहां यह प्रश्न उठता है कि 'सन्घटः' आदि उदाहरणों के अन्तर्गत घट विशेष का अनुवर्तन क्या सत्रूप वस्तु में होता है अथवा सामान्य का विशेष में यहाँ यह कहा जाएगा कि सामान्य अंश अर्थात् सत के घटादि विषयों में अनु-वर्तन से अद्वैत सिद्धि सम्भव है। अतः इससे विशेषानुवृत्ति का बोध होता है।

---

१. म०म० अनन्तकृष्ण शास्त्री भावशुद्धि अभिप्राय प्रकाशिका भूमिका, पृ० ३६

२. गौडपाद कारिका-२७ तथा अद्वैत प्रकरण।

३. ब्रह्मसिद्धि, तर्ककाण्ड कारिका २६

यहाँ प्रथम प्रश्न के अनुसार गौ स्वतः गौ है एवं अश्व स्वतः अश्व। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब सत् तत्व गौ एवं अश्व में समान रूप से वर्तमान हैं तथा गवादि की सत्ता काल्पनिक है तो गौ से अश्व तथा अश्व से गौ का कार्य क्यों नहीं सम्पन्न कर लिया जाता। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि जहाँ तक घट पटादि जगत्वर्ती विभिन्न विषयों में अभेद की बात है, उसका आधार तद्-तद् विषयों में अधिष्ठान रूप से वर्तमान सत् रूप सामान्य है। अतः अभिप्रायः प्रकाशिकाकार का कथन है कि तत् तद् विषयों की बुद्धि के अवतार अर्थात् आरोप के हेतु के समस्त भेद कल्पना विषयक ही समझना चाहिए न कि वास्तविक।[1] इस प्रकार समस्त जगत् में सत् तत्व के अधिष्ठान रूप से वर्तमान होने के कारण समस्त जगत् अद्वैत रूप से वर्तमान है। किन्तु तत् तद् विषयात्मा के कारण द्वैत है। अतः गौ अपने स्वरूप के कारण न अश्व से अभिन्न है और न अश्व गौ से अभिन्न, जिससे कि गौ का कार्य अश्व से तथा अश्व का कार्य गौ से सम्पन्न किया जा सके।[2] इस प्रकार सत् रूप अद्वैत तत्व के प्रतिपादन के सन्दर्भ में अभिप्राय प्रकाशिका के अनुसार यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया जा सकता है कि समस्त जगत् का आधार अधिष्ठान रूप सत् है तथा जागतिक भेद कल्पना मात्र है। इसी तथ्य के प्रतिपादन के द्वारा शंकराचार्य के समान अनेक अद्वैतवादी आचार्यों ने जैन दर्शन के अनेकान्तवाद आदि सिद्धान्तों का निराकरण किया है। इसी परम्परा में अभिप्राय प्रकाशिकाकार चित्सुखाचार्य ने भी ब्रह्मसिद्धि के आधार पर जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का निरसन किया है। इस स्थल पर अनेकान्तवाद का खण्डन प्रस्तुत करने से पूर्व अनेकान्तवाद सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक संक्षिप्त दृष्टि प्रस्तुत करना समुचित होगा।

अनेकान्तवाद सिद्धान्त का मूलाधार जैन दर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार घट् आदि विषयों का परामर्श 'स्यादस्ति' के रूप में ग्रहण किया जाता है। अतः जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक परामर्श वाक्य के साथ 'स्यात्' पद का योग अपेक्षित है। स्याद्वाद के अनुसार प्रत्येक

---

१. अद्वैतमापादयता तद्बुद्धयवतारोपायत्वात्
कल्पनाविषयो भेदोऽभ्युपेयः न तु वास्तव।
—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० २५८

२. तत्र सदात्मना जगदद्वैतम्, तत्तदात्मना द्वैतम्। सत्यप्येवं गौर्न स्वरूपेणाश्राभिन्नः, अश्वो वा न स्वरूपेण गवा भिन्नः, येन गोकार्यमश्वेनाप्यापद्यते॥
—म०म० अनन्त कृष्ण शास्त्री, ब्र०सि० भूमिका, पृ० ३६

विषय की विद्यमानता सन्दिग्ध होने के कारण 'स्यादस्ति' (कथचित्) रूप से स्वीकार्य है। यह स्यादवाद ही अनेकान्तवाद के रूप में प्रचलित है। अनेकान्तवाद का आधार पालि ग्रन्थों की वह विचारधारा है, जिसके अनुसार वस्तु के अस्तित्व की स्थिति तथा अभाव के विषय में किसी एक मत को स्वीकार न करके अनेक मतों की पुष्टि की जाती थी।[1] इस प्रकार उपर्युक्त विचारधारा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सत्ता को अनेकान्त मानने की कल्पना प्राचीन काल में वर्तमान थी।[2] अतः जैन दर्शन के स्यादवाद एवं अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का उदय प्राचीनकाल से माना जा सकता है। अनेकान्तवाद के अनुसार सत्ता सापेक्ष रूप को स्वीकार करने के कारण परामर्श का रूप सात प्रकार से व्याख्यात हुआ है, जो 'सप्तभंगीनय' के नाम से प्रख्यात है। सप्तभंगीनय इस प्रकार है—

(१) स्यादस्ति (कथंञ्चित् है),
(२) स्यान्नस्ति (कथञ्चित् नहीं है),
(३) स्यादस्ति च नास्ति च (कथंचित् है और नहीं है),
(४) स्याद् अवक्तव्यम् (कथंचित् अवक्तव्य=वर्णनातीत है।,
(५) स्यादस्ति च अवक्तव्यं च (कथंचित् है और अवक्तव्य है),
(६) स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च (कथंचित् नहीं है और अवक्तव्य है)
(७) स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च
(कथंचित् नहीं है तथा अवक्तव्य है)

इस प्रकार सत्ता के सम्बन्ध में अनेकान्तवाद के अनुसार अनेक सिद्धान्तों की उपलब्धि होती है। इस सम्बन्ध में यहाँ 'अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका' के शब्दों में यह कहना उपयुक्त होगा—

प्रमाणसिद्धान्तविरुद्धमत्र
यत्किंचिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात्।
मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः
प्रसादमाधाय विशोधयन्तु॥

अनेकान्तवाद का खण्डन

निष्कर्षतः अनेकान्तवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु द्रव्य पर्याय स्वरूप है। अतः

---

१. देखिए, बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० १५६
२. विशेष देखिए, मल्लिसेन रचित स्याद्वादमञ्जरी की भूमिका, पृ० ७५-७६

पर्यायान्तर में पर्यायांतर का अनुगम न होने के कारण सभी वस्तुएँ अनन्वित है व्यावृत्त स्वभाव वाली है। अतः विशेषरूपता एवं पर्यायरूपता के आधार पर तथा अनेकान्तवाद के अनुसार भेदभाव की ही सिद्धि होती है। किन्तु सदात्मता अथवा द्रव्यात्मता के आधार पर जैन दर्शन के अनुसार अद्वैत सिद्धि निष्पन्न है।[1] परन्तु विरोध होने के कारण उभयात्मता को किसी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः साध्यत्वेन भेद को न स्वीकार करके अभेदोपादान रूप से ग्रहण करना चाहिए न कि अभेद को भेदोपादान रूप से। इस प्रकार भेदानिर्वचनीयतावाद के आधार पर भेद की मिथ्यात्व सिद्धि के द्वारा अद्वैत तत्व का प्रतिपादन किया गया है।[2] अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने भी कहा है कि कल्पना के लाघव से भी भेद का अभेदोत्पानकत्व युक्त है।[3] यहाँ लाघव से अभेद विषयक अत्यंत लाघवता का आशय है।[4]

१. द्रव्यनयो द्वैतसिद्धान्तः, पर्यालनयोभेदवादः।—भावशुद्धि, पृ० २६०

यह और उल्लेखनीय है कि वेदान्त विद्या के विरोधी बाह्यार्थवादी यथानुवृत्त व्यवहार सिद्धि को भ्रान्तिमूलक कहते हैं। इसी प्रकार वेदान्त तत्व के वेत्ता भी समस्त भेद व्यवहार को मिथ्या कहते हैं—

यथानुवृत्तव्यवहारसिद्धिं यथावभासं कथयन्ति बाह्याः।
तथैव भेदव्यवहारयोगं वदन्ति वेदान्तविवेकभाजः॥[4]

समीक्षा

जैसा कि ऊपर व्याख्यात हुआ है, अभिप्राय प्रकाशिका के लेखक आचार्य चित्सुख ने तर्ककाण्ड के अन्तर्गत ब्रह्मसिद्धि के आधार पर प्रमाण का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए प्रत्यक्ष प्रमाण एवं आगम में आगम की बलवत्ता सिद्ध की गई है किन्तु आगम का बलीयस्त्व प्रतिपादित करते हुए भी प्रत्यक्ष का निराकरण नहीं किया है। इसका कारण यह है अद्वैत वेदान्त में अद्वैत ब्रह्म को परमार्थ

---

१. दर्पणादौ मुख्यस्येव भेदो भेदावलम्बनः।
भेदावलम्बनो भेदो न तथा तदभावतः॥ —ब्र०सि० २-३३
प्रत्येकमनुबद्धत्वादभेदेन मृषा महः।
भेदो यथा तरंगाणां भेदाभेदः कलावतः॥ —ब्र०सि० ३-३४

२. कल्पनालाघवन्यायादप्यभेदोपादनकत्वमेव भेदस्य युक्तम्।
—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० २७४

३. लाघवात् = अभेदेऽत्यन्त लाघवात्।—ब्र०सि० पृ० २७५

४. ब्र०सि० २-३६

सत् के रूप आदि को देखते हुए भी प्रत्यक्ष सिद्ध व्यवहार को अंगीकार किया गया है। ब्रह्मसिद्धि को अभिप्राय प्रकाशिकाकार की प्रामाण्य विषयक दृष्टि भी परम्परागत दृष्टि से भिन्न है निदर्शनार्थ मीमांसा में जिस स्वतः प्रामाण्य का प्रतिपादन किया गया है, उससे चित्सुखाचार्य द्वारा प्रतिपादित प्रामाण्य सर्वथा भिन्न है। अभिप्राय प्रकाशिका सम्मत स्वतः प्रामाण्य का अभिप्राय ब्रह्मसिद्धि के सम्बन्ध में प्रामाणान्तर की अनपेक्षा से है क्योंकि ब्रह्म के स्वतः सिद्ध होने के कारण उसे प्रामाणान्तर की अपेक्षा नहीं है अतः उसका स्वतः प्रामाण्य सिद्ध है। अभिप्राय प्रकाशिका में परम्परागत कर्म विधि एवं वेदान्त के विरोध का भी निराकरण किया गया है। अतः आचार्य चित्सुख कर्म काण्ड एवं ज्ञान काण्ड में विरोध को स्वीकार न करके दोनों में अविरोध का प्रतिपादन करते हुए कर्म एवं ज्ञान के समन्वय का मार्ग प्रशस्त करते हैं। अश्व दृष्टान्त के आधार पर उक्त तथ्य का विशदीकरण करते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार अश्व पर सवार व्यक्ति महिष आदि की अपेक्षा गन्तव्य को शीघ्रता से प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार यज्ञादि कर्म के सम्पादन से मोक्ष प्राप्ति सरलता और शीघ्रता से असम्पन्न हो जाती है। अतः अभिप्राय प्रकाशिकाकार का कथन है कि कर्मविधि एवं वेदान्त में व्याकुलत्व न होकर अविरोध ही स्वीकार करना चाहिए। तर्कांकाण्ड के अन्त में अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने अद्वैतवाद के प्रतिपादन में सत् तत्व को अधिष्ठान रूप में स्वीकार करके अद्वैत विरोधी अनेकान्तवाद एवं बौद्ध मत का खण्डन करते हुए सत् स्वरूप तत्व का प्रतिपादन किया है। जैसा कि ऊपर अनेकान्तवाद के निरसन के अवसर पर विश्लेषण किया गया है, आचार्य चित्सुख व्यवहार में वेद को भी स्वीकार करते हैं, किन्तु अभेदोपादान अथवा अद्वैतोपादान की ही दृष्टि से। अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अभिप्राय प्रकाशिकाकार आचार्य चित्सुख ने उपर्युक्त अनेक तर्कनाओं के आधार पर नवीन दृष्टि से अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है।

चतुर्थ अध्याय

ब्रह्मसिद्धि का नियोग काण्ड एवं अभिप्राय प्रकाशिका

नियोग का स्वरूप निरूपण

नियोग शब्द नि उपसर्ग पूर्वक युज् धातु से घञ् प्रत्यय होने पर निष्पन्न होने लगा है। नियोग शब्द के अर्थ उपयोग, प्रयोग, आदेश, कर्तव्य आदि अनेक हैं। मोनियर विलियम्स[1] तथा आप्टे[2] ने इन अर्थों के साथ-साथ कतिपय अन्य अर्थों का भी उल्लेख किया है।

प्रस्तुत स्थल पर नियोग का अर्थ मीमांसा दर्शन अथवा कर्मकाण्ड की कर्तव्य विधि से है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन अथवा कर्मकाण्ड के अन्तर्गत नियोग शब्द का अर्थ आम्नाय प्रतिपादित क्रिया विधि समझना चाहिए, जिसमें यज्ञादि विधि संगृहीत है। नियोग के स्वरूप का विचार करने से पूर्व वहाँ वेदान्त की उस समझ की ओर निर्देश करना आवश्यक है कि पूर्व मीमांसा के अनुसार, "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यम् अतदर्थानाम्' (जै०सू०) के आधार पर यह प्रतिपादित किया जाता है कि समस्त आम्नाय क्रिया अथवा विधि परक है एवं जो वेदान्त वाक्य क्रिया परक नहीं है, वे निरर्थक है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन के अन्तर्गत उपनिषदों के आधार पर ब्रह्म तत्व के प्रतिपादक वेदान्त वाक्यों का वैय्यर्थ्य तथा नियोग—विधिपक कर्मकाण्ड वाक्यों की सार्थकता सिद्ध की गई है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर मीमांसा दर्शन

---

1. Sir, Monior Willioms, Sanskrit-English Dictionary, —Oriental Publishers, Delhi, page 552
2. V.S. Apte, Sanskrit English Dictionary p. 290 Poona, 1890

के विचारकों ने विशेषतः प्रभाकर ने नियोग विधि को आम्नाय का साध्य एवं प्रतिपाद्य बतलाया है। इसके विपरीत उत्तर मीमांसकों अर्थात् अद्वैत वेदान्तियों ने ब्रह्मज्ञान एवं वेदान्त विद्या को समस्त आम्नाय का प्रतिपाद्य सिद्ध किया है। निदर्शनार्थ, आचार्य चित्सुख ने भी अभिप्रायप्रकाशिका के अन्तर्गत यही स्पष्ट किया है कि वेदान्त से ब्रह्म का ही बोध होता है न कि कार्य का।[1] इस सम्बन्ध में मण्डनमिश्र, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर तथा भामतीकार वाचस्पति मिश्र के विचार महत्वपूर्ण है। ब्रह्मसूत्रभाष्यकार आचार्य शंकर तथा ब्रह्मसिद्धि कार मण्डनमिश्र दोनों के ही अनुसार नियोग विधि की इष्टसाधनता स्वीकार्य है। अतः कुमारिल भट्ट का 'व्यवहारे भाट्टनयः' सिद्धान्त मण्डनमिश्र को स्वीकार नहीं है। भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने भी उक्त मत का खण्डन किया है। कुमारिल भट्ट का अभिमत सिद्धान्त भावनाविध्यर्थवाद है, जिसके अनुसार भावनाविधि अर्थात् क्रियाविधि ही आम्नाय का प्रयोजन है। किन्तु प्रभाकर गुरू नियोगवाक्यार्थवाद के ममर्थक है। जहाँ तक मण्डनमिश्र का प्रश्न है, उन्होंने इष्ट साधनता विध्यर्थतावाद के द्वारा कुमारिल भट्ट के मत का खण्डन किया है। इस प्रकार मण्डनमिश्र एवं प्रभाकर गुरू दोनों ही कुमारिल भट्ट के मत को स्वीकार नहीं करते। किन्तु यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर दोनों ही अद्वैत मत के विरोधी हैं। जहाँ कुमारिल भट्ट भावनाविध्यर्थवाद के आधार पर वेदान्त की अप्रामाणिकता सिद्ध करते हैं, ब्रह्म के विषय में, वहाँ प्रभाकर भट्ट नियोग—वाक्यार्थवाद के आधार पर ब्रह्म के विषय में वेदान्त की अप्रामाणिकता की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार वे दोनों परस्पर प्रतिद्वन्दी होते हुए भी अद्वैतमत के समर्थक नहीं हैं। जहाँ तक मण्डनमिश्र का प्रश्न है, उन्होंने इष्टसाधनताविध्यर्थतावाद के आधार पर दोनों ही मतों का खण्डन कर इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि आम्नायप्रतिपादित विध्यर्थवाक्यों की तत्वज्ञान के निमित्त से साधनता स्वीकार्य है। इस प्रकार मण्डन मिश्र के अनुसार उपासनाविधि ब्रह्मज्ञान में साधन है, न कि साध्य। अतः मण्डनमिश्र का मत कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर के मत का विशेष विरोधी है। जैसा कि कहा जा चुका है, मीमांसक प्रभाकर नियोगपरक होने के कारण ही वेदान्तसिद्धान्तों की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं तथा इस प्रकार वेदान्त के वाक्यों के आधार उपास्य ब्रह्म तथा सगुण ब्रह्म की ही सिद्धि होती है, किन्तु यह मत न शंकराचार्य को स्वीकार था और न उनके परवर्ती प्रतिष्ठित विद्वान् आचार्य चित्सुख को।

१. वेदान्तेभ्यश्च ब्रह्मावगम्यते न तु कार्यम्।—अ०प्र०, पृ० २८२

इससे यह विश्वास किया जा सकता है कि इस सम्बन्ध में आचार्य शंकर तथा मण्डनमिश्र का जो शास्त्रार्थ हुआ था, उसके अनुसार आचार्य मण्डनमिश्र ने वेदान्त को सगुण ब्रह्मपरक न स्वीकार करके निर्गुणब्रह्मपरक स्वीकार किया था। अतः एव आचार्य शंकर ने मन्डनमिश्र को अपना अन्तेवासी स्वीकार किया था।[1] इससे यह भी स्बीकार करना होगा कि शास्त्रार्थ के पश्चात् परास्त होने पर मण्डनमिश्र ने संयोगपृथक्त्व न्याय से कर्म की उपयोगिता स्वीकार की थी, जिसका अनुमोदन आचार्य शंकर ने भी किया था। इसके पश्चात् ही मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि की रचना की थी। इसीलिए ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत मण्डनमिश्र ने प्रधान रूप से अद्वैत सिद्धि का प्रतिपादन करते हुए विध्यर्थ, नियोग आदि की व्याख्या की है। नियोग का स्वरूप निरूपण करते हुए इस तथ्य का प्रकाशन अपेक्षित है कि नियोग के अनुसार कार्य ही भेद का तात्पर्य है। इस प्रकार वेदान्त सिद्धान्तों का भी विधिविषयक प्रतिपत्ति-शेषता से ही प्रामाण्य है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, अभिप्राय प्रकाशिका के अनुसार आम्नाय का प्रतिपाद्य कार्य न होकर ब्रह्म ही है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप से यह कहना समुचित होगा कि तत्वबोध-परक वेदान्त स्वसामर्थ्य से ही अर्थबोधकता-शक्ति से सम्पन्न है। अतः उन्हें ज्ञान विधि की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार यह भी समझना चाहिए कि जहाँ प्रभाकर का सिद्धान्त आम्नाय को नियोगपरक अर्थात् यागादि-क्रियापरक स्वीकार करता है, वहां शांकर सिद्धान्त-सम्मत मण्डनमिश्र का सिद्धान्त मत आम्नाय को ब्रह्मज्ञानपरक मानता है। यह बात दूसरी है कि आचार्य मण्डनमिश्र यज्ञादि कृत्य को ब्रह्म-ज्ञान में सहायक स्वीकार करते हैं। इस विषय का निरूपण इस प्रबन्ध में द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

क्रिया के सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट का मत

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्'

(जै०सू० १-२-१) के आधार पर समस्त आम्नाय को क्रियार्थक मानते हुए क्रियार्थ से रहित वेदान्त सिद्धान्तों की मीमांसक द्वारा अनर्थकता सिद्ध की गई है तथा यह कहा गया है कि वेद की प्रामाणिकता कार्यार्थ में ही है भूतार्थ में नहीं।[2] मीमांसक का कथन है कि वेदान्त सिद्धान्तों की बोधकता भी "आत्मा प्रतित्तव्यः एवं श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः" इस श्रुति के

---

१. द्रष्टव्यः म०म० अनन्तकृष्ण शास्त्री, ब्रह्मसिद्धि, भूमिका पृ० ४३

२. कार्यार्थे वेदः प्रमाणम्।—ब्र०सि० पृ० ७४

अनुसार क्रिया के द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि प्रतिपत्ति, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन क्रियाएँ ही हैं। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि वेदान्त की स्थिति भी कार्यनिष्ठता का अतिक्रमण करके सम्भव नहीं है।[1] अतएव शास्त्रप्रदीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र ने विधि की नियमार्थकता स्वीकार करते हुए उसकी सार्थकता का प्रतिपादन किया है।[2] साथ ही शास्त्रदीपिका के अन्तर्गत धर्म को स्पष्ट रूप से क्रियात्मक स्वीकार किया है।[3]

ब्रह्म विषयक प्रतिपत्तियों के तीन भेद हैं—

१. शब्द प्रतिपत्ति

२. शब्द प्रपन्न—ध्यान, भावना एवं उपासना आदि शब्दों से वाच्य प्रतिपत्ति

३. समस्त विकल्पों से रहित साक्षात्काररूपा प्रतिपत्ति

जिसने वेद का अध्ययन कर लिया है उसे विधि के बिना भी, भाव से कर्म ज्ञान के समान ब्रह्म ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ 'स्वर्गकामो यजेत'। इस वाक्य का जिसने श्रवण कर लिया है, उसके लिए एतद्वाक्यार्थ बोध उस वाक्य के प्रामाण्य से ही होता है। इस प्रकार उसे उक्त वाक्यार्थ के बोध के लिए किसी विधि की अपेक्षा नहीं है। इसी प्रकार आत्म स्वरूप के अभिधायी वाक्य प्रामाण्य से ही किसी विध्यन्तर की अपेक्षा के बिना ही आत्मज्ञान होता है। इस प्रकार यह कहना होगा कि 'स्वर्गकामो यजेत'=ज्ञानेन स्वर्ग भावयेत्' इत्यादि वाक्यों के अन्तर्गत कर्म-विधिवाक्यार्थज्ञान[4] की प्रवृत्ति में कोई दूसरी विधि अपेक्षित नहीं है और न कोई विधि तद्गत अथवा अर्थज्ञान प्रवृत्ति-गत हैं। वह तद्गत इसलिए नहीं है क्योंकि वह कर्म विषयक होने के कारण अर्थज्ञान का बोध कराने में असमर्थ ही हैं।[5]

---

१. अतस्तेऽपि कार्यनिष्ठतां नातिवर्तन्ते।—ब्र०सि० पृ० ७५

२. विधेश्च नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति।
—शास्त्रदीपिका जिज्ञासाधिकरण पृ० ६

३. द्रष्टव्यः शास्त्रदीपिका धर्म-लक्षणाधिकरण पृ० १९,२०,२१

४. शब्दायदात्म-विज्ञानं तन्न तावद्विधीयते।
भवत्यधीतवेदस्य तद्धि कर्मावबोधवत्॥—ब्र०सि० ३-१

५. तद्भूतस्य च कर्मविषयत्वेन तद्बोधं विधातुम् असामर्थ्यात्।
—ब्र०सि० पृ० ७६

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'[1] इस प्रकार के वाक्यों के अर्थज्ञान के लिए विध्यन्तर 'वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः'[2] (समस्त वेद का अनुशीलन करना चाहिए) इस विधि की अपेक्षा है, उसी प्रकार 'स्वर्ग कामो यजेत' आदि वाक्यों में भी वाक्यार्थबोध के लिए विध्यन्तर की अपेक्षा माननी चाहिए। किन्तु यह समुचित नहीं है। इसका कारण यह है कि जैसा ऊपर कहा गया है 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' के प्रमाण से समस्त वेद के अध्ययन स्वरूप विधि अपेक्षित नहीं है, क्योंकि गुरूजनों के श्रवण मात्र से भी उपर्युक्त वेदवाक्यार्थबोध सम्भव है।[3]

यहाँ यह भी कहा जाएगा कि अज्ञातार्थज्ञानविधि अवबोध में प्रवृत्त नहीं करती। यदि कहा जाए कि वाक्यार्थबोध विधि की अपेक्षा रखता है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि विधि के अज्ञातार्थक होने के कारण इतरेतराश्रय दोष होगा। इस प्रकार तो वाक्यार्थ बोध से प्रवृत्ति सम्भव होगी तथा प्रवृत्त को वाक्यार्थबोध संभव होगा। अतः संक्षेप में यह कहा जाएगा कि विध्यन्तर के मानने पर अनवस्था दोष होगा। उक्त मत के समर्थन में ब्रह्मसिद्धिकार का कथन है कि तत्व-प्रतिपत्तिपरक वाक्यों में भी विधि की अपेक्षा नहीं है। एवञ्च वाक्य में सामर्थ्य से ही तत्वबोध सम्पन्न होता है।

जैसाकि आम्नाय की क्रियार्थकता के सम्बन्ध में इस प्रकरण के आरम्भ में संकेत किया गया है, यह कहना अभीष्ट है कि यह क्रियार्थकता का रूप अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है और वह यह कि आख्यात पदार्थ के बिना नाम पदार्थों का संसर्ग सम्भव नहीं है, क्योंकि क्रिया ही पदार्थ-संयोग का कारण है। क्रिया के अभाव में वाक्य की आकांक्षा पूर्ण नहीं होती है। 'स्वर्गकामोयजेत' के अन्तर्गत 'यजेत पद' यज् धातु में त प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। त प्रत्यय तिङ् होने के कारण सामान्यरूपेण आख्यात कहा जाता है और विधिलिङ् होने के कारण विशेषरूपेण लिङ् कहा जाता है। इस प्रकार 'त' प्रत्यक्ष के आख्यातत्व एवं लिङ्त्व ये दो अंश हुए।[4] अतः ब्रह्म

---

१. तैत्ति०आ० २-१५

२. मनु० २-१६५

३. शाखान्तरीयांगोपसंहार इव श्रवणमात्रात्।—ब्र०सि० ३-७५

४. एवं तत्त्वप्रतिपरेष्वपि वाक्येषु न विधिरपेक्षितव्यः, वाक्यसामर्थ्यादेव तत्व-बोधोत्पादादिति।।—ब्र०सि० पृ० ७६

आदि सिद्ध पदार्थ न शब्दविषयक हैं और न वाक्यार्थ। क्योंकि क्रियारहित पदार्थों का कोई संसर्ग-सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वाक्यार्थ बोध के लिए क्रिया का स्वीकार करना अपेक्षित है, क्योंकि क्रिया के द्वारा ही पदार्थ-संसर्ग-सिद्धि की आशा की जा सकती है। इस प्रकार इस तर्क के आधार पर भी वाक्यार्थ बोध के लिए क्रिया की अपेक्षा तथा विधि की अनपेक्षा है।

जहाँ तक क्रिया के सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट के मत का प्रश्न है, ये जैसा कि पहले भी कहा गया है भावना-विध्यर्थतावाद के समर्थक हैं, जिसके अनुसार आम्नायार्थ की सिद्धि भावना विधि अर्थात् क्रिया-विधि के द्वारा संभव है, ऐसा मानते हैं। भावना शब्द का अर्थ क्रिया एवं व्यापार है।

प्रभाकर का मत—

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' (जै०सू०)

इस बचन को लेकर प्रभाकर का मत कुमारिल भट्ट से भिन्न है। जैसा कि पहले भी कहा गया है, जहाँ कुमारिल भट्ट भावनाविध्यर्थतावादी हैं, वहाँ प्रभाकर नियोग-वाक्यर्थतावाद के द्वारा ब्रह्म के सम्बन्ध में वेदान्त की अप्रामाणिकता का समर्थन करते हैं तथा वेद वाक्यों का पर्यवसान नियोग-विषयक क्रिया के द्वारा सिद्ध करते हैं।[1] उदाहरणार्थ 'दध्ना जुहोति' यह वाक्य विनियोगविधि का उदाहरण है। इस वाक्य के अन्तर्गत दधि अंग है तथा होम अंगी।[2] इस प्रकार कुमारिल के द्वारा नियोगविषयक क्रिया के द्वारा ही होम कर्म में प्रवृत्ति सिद्ध की गई है।

'दध्ना जुहोति' अर्थात् दध्ना होमं भावयेत (दधि से होम सम्पन्न करें)। यहाँ 'दधि' करण-कारक है तथा होम पद में होम कर्म कारक है। इस प्रकार प्रभाकर के अनुसार विनियोग विधि के द्वारा कर्म में—'प्रवृत्ति सिद्ध की गई है। प्रभाकर का मत है कि कार्यपरता के द्वारा ही वेदान्तों का प्रामाण्य है, न कि भूतार्थ अर्थात् सिद्ध ब्रह्म के अनुवाद मात्र से वेदान्त की प्रामाणिकता

---

१. तत्र 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' इत्यत्रनियोगविषयः
क्रियैव वेदवाक्यानाम् पर्यवसानमिति प्रभाकरः।
—अनन्तकृष्ण शास्त्री, ब्र०सि० भूमिका, पृ० ८६

२. द्रष्टव्यः अर्थसंग्रह पृ० ५३

सिद्ध की जा सकती है। अतएव अनन्त कृष्ण शास्त्री ने ब्रह्मसिद्धि की भूमिका के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से लिखा है—

वेदान्तानां कार्यपरतयैव प्रामाण्यमिति प्रभाकरमतानुवादः।[1]

अभिप्रायप्रकाशिकाकार द्वारा उक्तमतों का खण्डन

अभिप्राय प्रकाशिकाकार आचार्य चित्सुख ने तत्वज्ञान के सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट द्वारा स्वीकृत भावना विध्यर्थता तथा प्रभाकर द्वारा अंगीकृत नियोग वाक्यार्थवाद दोनों का ही खण्डन किया है। उन्हें आम्नाय का अर्थ न भावना—विधि स्वीकार है और न विनियोग विधि। आचार्य चित्सुख स्पष्ट रूप से आम्नाय का अभिप्राय कार्य न मानकर ब्रह्मतत्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान मानते हैं।[2] ऊपर क्रिया के सम्बन्ध में विचार करते समय "आत्मा प्रतिपत्तव्यः' इस वाक्य के आश्रय से तीन प्रकार की प्रतिपत्तियों का संकेत किया गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सिद्धान्तमतानुसार तृतीया प्रतिपत्ति ही, जो समस्त विकल्पों से रहित साक्षात्कार स्वरूपा है, सम्मत है। अभिप्रायप्रकाशिका के अनुसार यह स्थिति आत्मज्ञान की वह स्वरूपस्थ स्थिति है जो अविधेय है।[3] अतः जिसमें विधि की किञ्चन मात्र अपेक्षा नहीं है। ब्रह्मसिद्धिकार ने भी आत्मस्थिति में विधि की सर्वथा अनपेक्षा कही है।[4] जैसा कि अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने कहा है, जो अद्वैत स्वरूप आत्मप्रकाश समस्त अवच्छेदों एवं विभ्रमों से रहित है[5], वह विधि का साध्य किस प्रकार हो सकता है।

मोक्ष एवं तत्वज्ञान की विधिसाध्यता न स्वीकार करने पर आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' 'श्रोतव्योमन्तव्यः निदिध्यासितव्यः' आदि विधिच्छाय वचनों की

---

१. म०म० अनन्तकृष्णशास्त्री, ब्रह्मसिद्धि भूमिका पृ० ४६

२. वेदान्तेभ्यश्च ब्रह्मैवावगम्यते, न तु कार्यम्।
—अभिप्रायप्रकारिका पृ० २८२

३. तृतीयज्ञानस्य स्वरूपत्वादविधेयत्वं दर्शयितुम्
प्रथमं तावदात्मस्वरूपतां तस्य दर्शयति।
—अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ४१५

४. अद्वयात्मप्रकाशोऽसावनवच्छेदविभ्रमः।
स्वात्मस्थितिः सुप्रशान्ता फलं तन्न विधेः पदम्॥
—ब्र० सि०, पृ० ३-१३९

५. अतएवावच्छेदविभ्रमरहितः इत्याह।—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ४१५

सार्थकता किस प्रकार सिद्ध होगी, क्योंकि इनमें द्रष्टव्य आदि से विधि का स्पष्ट बोध होता है। इतना ही नहीं, इनके द्वारा आत्मा एवं ज्ञान ब्रह्म की अनित्यता भी सिद्ध होती है। क्योंकि जो आत्मा पहले असाक्षात्कृत है उसी के सम्बन्ध में द्रष्टव्य कहना संगत होगा। किन्तु यह तर्क समुचित नहीं है। इस सम्बन्ध में जैसा कि आचार्य शंकर ने कहा है—इसका कारण यह है कि उपर्युक्त प्रकार के श्रुति वचन विधि में प्रवृत्ति के उत्पन्न वचन करने के लिए न होकर स्वाभाविक प्रवृत्ति विषय से विमुख करने के लिए है।[1] अतः ब्रह्म एवं आत्मा के सम्बन्ध में क्रिया संस्पर्श का प्रश्न उठाना नितान्त अनुचित है। अतएव ब्रह्मसिद्धिकार ने स्पष्टरूप से कहा है—न च मोक्षः फलं तस्य साध्यो मोक्षो न चापरः।[2] अतः मोक्ष अथवा ब्रह्मज्ञान तो नित्य एवं भावस्वरूप है। इसलिए उसके सम्बन्ध में अनित्यता की शंका करना नितान्त अनुचित है। अतएव अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने आत्मा के सम्बन्ध में अनित्यता का निराकरण करते हुए[3] उसकी नित्यता को ही स्वीकार किया है।[4] वस्तुतस्तु 'ब्रह्म स ब्रह्मवित् स्वयम्'[5] तथा ब्रह्मभावो हि मोक्षः (ब्र०सू०शा०भा० १-१-४) आदि कथन आत्मा एवं ब्रह्म की अनुभव-स्वरूपता को ही सिद्ध करते हैं। अतः अद्वैत वेदान्त के अनुसार जब आत्मा को 'प्राप्तव्य, प्रतिपत्तव्य, द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य, निदिध्यासितव्य तथा लभ्य कहा जाता है तो उसका तात्पर्य आत्मा की कर्तव्यता से न होकर उसके स्वरूपानुभव से है। जैसा कि शंकराचार्य ने कहा है, इस स्थिति में धर्म एवं अधर्म कार्य के साथ त्रिकाल में भी सम्बद्ध नहीं होते।[6] संक्षेप में आत्मा की लभ्यता एवं प्राप्तव्यता का यही आशय

---

१. स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः।

—ब्र०सू०शा०भा०, १-१-४

२. ब्र०सि० ३-१४१

३. कृतकत्वादनित्यत्वमपि न प्रसज्यते।—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ४२६

४. इह तु मोक्षस्य शब्दैकगोचरत्वात् तेनास्य नित्यत्वेनैव
प्रतीतेरनित्यत्वानुमानं धर्मिग्राहकप्रमाणविरूद्धमिति भावः।

—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ४२७

५. मुक्तिकोपनिषद् २-६४

६. यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तते।

—ब्र०सू०शा०भा० १-१-४

है कि अविद्या के कारण जिसे आत्मा का अनुभव नहीं होता उसका अनुभव अविद्या का उच्छेद होने पर होता है। यह अविद्या संसार स्वरूपा है।[1]

इस प्रकार अभिप्रायप्रकाशिकाकार आचार्य चित्सुख सामान्य रूप से स्वीकृत अविद्या निवृत्ति को मुक्ति न मानकर संसार निवृत्ति को मुक्ति मानते हैं।[2] अतः यह कहना संगत होगा कि अभिप्रायप्रकाशिका के अनुसार आम्नाय क्रियार्थक न होकर ब्रह्मपरक एवं मोक्षपरक है। इस सम्बन्ध में निम्नोद्धृत श्रुतिवचन निदर्शनीय हैं।

१. तत् केन कम् पश्येत् —पृ०उ० २-४-१४
२. तत्वमसि, —छा०उ० ६-८-७
३. अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः—छा०उ० ८-१२-१
४. अप्राणोह्यामना शुभ्रः (मु०उ० २-१-२)
५. असंगोह्ययं पुरुषः (ब्र०उ० ४-५-१५)
६. अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च (क०उ० २-१४)
७. ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति (मु०उ० ३-२-९)
८. आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् (तै०उ० २-९)
९. तत्र को मोहः क शोकः एकत्वमनुपश्यतः (ईशा० ७)
१०. तदात्मानमेवावेदाहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्।
(वाजसनेयिब्राह्मणोप० १-४-१०)
११. इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति। (ब्र०उ० १-४-१०)
१२. अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि (केन०उ० १-३)
१३. येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् (बृ०उ० २-४-१३)
१४. तदेव त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते (केन उ० १-४)
१५. "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' 'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः'
(बृ०उ० ३-४-२)
१६. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः (बृ०उ० २-४-५)

---

१. अविद्यास्तमयो मोक्षः सा संसार उदाहृता
विद्यैव चाद्वया शान्ता तदस्तमय उच्यते।—ब्र०सि० ३-१४२
२. संसारनिवृत्तिर्मुक्तिः न तु अविद्या-निवृत्तिर्मुक्तिः।
—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ४२८

१७. किमिच्छत्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् (बृ०उ० ४-४-१२)

१८. स एष नेति नेत्यात्मा (बृ०उ० ३-९-२६)

१९. पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः (काठ० १-३-११)

कर्म एवं ज्ञान के सम्बन्ध में मण्डनमिश्र का मत

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, कर्म एवं ज्ञान के सम्बन्ध में कुमारिल प्रभृतिमीमांसक आचार्यों के विभिन्न मत वर्तमान थे। यदि देखा जाय तो आचार्य मण्डनमिश्र ने क्रिया एवं ज्ञान के सम्बन्ध में एक सामञ्जस्यवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कर्म एवं ज्ञान के विषय में एक समन्यवादी मत प्रस्तुत किया था। क्रिया के विषय में यह कहा जाएगा कि मण्डनमिश्र क्रिया पद से ज्ञान की भी विवक्षा रखते हैं।[1] इस प्रकार मण्डनमिश्र के अनुसार वेदान्त के ज्ञान-पर्यवसायी होने पर भी उसमें क्रियार्थकता स्वीकार्य है। उनका तर्क है कि विध्यर्थ इष्ट-साधनता से अतिरिक्त नहीं है। आचार्य मण्डनमिश्र का कथन है कि तत्वज्ञान से संसार के हेतु मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है। इस प्रकार यह निवृत्ति ही तत्वज्ञान का प्रयोजन है। क्रिया मण्डनमिश्र के मत में मोक्ष का साधन स्वीकार की गई है।

कर्म एवं ज्ञान का परस्पर सम्बन्ध ही मण्डनमिश्र एवं शंकराचार्य के शास्त्र का प्रधान विषय था, जैसा कि सुविदित है। मण्डनमिश्र के अनुसार विरक्तों के सामान गृहस्थों के लिए भी सन्यास का नियम है तथा यह धर्म का एक स्वरूप है। यहाँ यह अन्तर विचारणीय है कि जहाँ विरक्तों के लिए सन्यास मुख्य है, यहाँ आचार्य मण्डनमिश्र के अनुसार यह गौण कल्प है। इस प्रकार जैसा कि द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत पहले भी कहा जा चुका है, गृहस्थावस्था में कर्मानुष्ठान से शीघ्र मुक्ति की प्राप्ति होती है। किन्तु जो कर्मानुष्ठान के अधिकारी नहीं हैं उन्हें चिरकाल से मुक्ति लाभ होता है। इस विषय में अश्वदृष्टान्त अत्यन्त समुचित है। इस सिद्धान्त के अनुसार जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, कोई व्यक्ति बैल अथवा इसी प्रकार के किसी वाहन की अपेक्षा अश्व पर आरूढ़ होकर अपने उद्दिष्ट स्थान पर शीघ्रता से पहुँच जाता है। इसी प्रकार कर्मानुष्ठान से मोक्ष की प्राप्ति में सरलता एवं शीघ्रता हो जाती है। इस सम्बन्ध में अनन्तकृष्ण शास्त्री का मत है कि

---

१. मण्डनस्तु क्रियापदेन ज्ञानमपि विवक्षति।

—अनन्तकृष्ण शास्त्री ब्र०सि०भूमि० पृ० ८६

शंकराचार्य के साथ मण्डनमिश्र का शास्त्रार्थ होने पर मण्डनमिश्र की पराजय पश्चात् कर्म के सम्बन्ध में संयोगपृथक्त्व न्याय से कर्म की उपयोगिता का समर्थन आचार्य शंकर ने भी किया था तथा इसके पश्चात् ही मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि की रचना की होगी।[1]

इस प्रकार कर्म के सम्बन्ध में मण्डनमिश्र का यह दृष्टिकोण स्पष्ट है कि कर्म साधन है तथा ज्ञान साध्य। यद्यपि कर्म द्वैत मूलक है तथा ज्ञान अद्वैत-मूलक।[2]

तत्वबोध होने पर मिथ्यावभास की निवृत्ति होती है, इस सम्बन्ध में मण्डनमिश्र का मत है कि यह अनिवार्य नहीं है। इस विषय में मण्डनमिश्र का कथन है कि जब हम किसी नवीन स्थान पर जाते हैं तो प्रायः दिग्भ्रम हो जाता है, यद्यपि किसी विश्वस्त व्यक्ति के द्वारा सर्वथा दिशा बोध कराया गया होता है। इसी प्रकार यद्यपि व्यक्ति को उपनिषदों के द्वारा तत्वबोध प्राप्त हो गया होता है, किन्तु फिर भी उसे मिथ्यावभास होता है। अतः इस सम्बन्ध में मण्डनमिश्र का मत है कि उपनिषदों के द्वारा तत्वबोध होने पर भी उपनिषद ज्ञान का पुनः पुनः अभ्यास अपेक्षित है। जैसा कि द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत भी कहा जा चुका है, मण्डनमिश्र कर्म एवं ज्ञान का सम्बन्ध दो प्रकार से स्वीकार करते हैं—एक संयोगपृथक्त्व सिद्धान्त के अनुसार और दूसरे ज्ञान में कर्म साह्याय के अनुसार। जहाँ तक प्रथम पक्ष का सम्बन्ध है, एतदनुसार समस्त वैदिक कर्मकाण्ड आत्मसाक्षात्कार में सहायक है।[3]

संयोगपृथक्त्व न्याय के अनुसार वैदिक कर्म सम्पादन का द्विविध फल है—(१) स्वर्गादि की प्राप्ति तथा (२) आत्मसाक्षात्कार। यही संयोगपृथक्त्व है।[4] उदाहरणार्थ यह कहा गया है कि 'पशु को खदिर के खूंटे से बांधना चाहिए।' तथा 'जो पौरुष चाहता है उसे खदिर का खूंटा बनाना चाहिए।'[5] इस प्रकार इन उदाहरणों के आधार पर दो अभिप्राय स्पष्ट होते हैं—

(१) यज्ञीय खूंटे के रूप में खदिर यज्ञ प्रयोजन में सहायक सिद्ध होता है।

---

१. अनन्तकृष्ण शास्त्री, ब्र०सि० भूमिका पृ० ४४

२. ब्र०सि० पृ० ३२

३. ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन। —बृहदा०उ० ४-४-२२

४. मीमांसासूत्र ४-३-५

५. ब्र०सि० २-७१

(२) यज्ञकर्ता को यह पौरुष प्रदान करता है।
इसी प्रकार यज्ञीय कर्म के भी दो कार्य हैं।

एक तो कर्म आत्म-स्वरूपाभिव्यक्तिमें कारण है और दूसरे उससे स्वर्गादि की सिद्धि होती है।

किन्तु ब्रह्मसिद्धिकार ने यह स्पष्टरूप से स्वीकार किया है कि कर्म, ज्ञान का उसी प्रकार सहायक नहीं है जिस प्रकार कि प्रयाज। प्रयाज दर्श-पूर्ण-मास के फलोत्पाद में सहायता प्रदान करता है।[1] किन्तु ऐसा कर्म के सम्बन्ध में नहीं है। कर्म मोक्ष का साक्षात् सहायक नहीं है।

अभिप्रायप्रकाशिकाकार का मत

अभिप्रायप्रकाशिकाकार आचार्य चित्सुख कर्म-विधि को आत्मज्ञान का अंग मानने के पक्ष में नहीं है। इस विषय में एक शंका को प्रस्तुत करते हुए आचार्य ने कहा है कि जिस प्रकार प्रयाज आदि अपना अपना अपूर्व निष्पन्न करते हुए भी दर्शपूर्ण मास के अपूर्व कार्य में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार कर्म-विधियां भी स्वर्गादि कार्य का लक्ष्य रखते हुए भी क्या आत्मज्ञान में प्रवेश नहीं कर सकती। अर्थात् क्या कर्मविधियों के द्वारा आत्मज्ञान की साध्यता नहीं सिद्ध होती।[2] इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए अभिप्रायप्रकाशिका के अन्तर्गत कहा गया है कि प्रकरण से प्राप्त दर्शपूर्णमास की अंगता का निर्वाह करने के लिए अवान्तर अपूर्व के द्वारा प्रयाज आदि की अंगता स्वीकार करना उचित है, परन्तु प्रकृत स्थल में यह समुचित नहीं है। इसका कारण यह है कि ज्योतिष्टोम आदि कर्म-विधियों का स्वर्ग आदि फल श्रूयमाण है। अतः वहाँ तो उनकी अंगता अपेक्षित है, किन्तु आत्मज्ञान के सन्दर्भ में यह कहा जाएगा कि यह कर्मविधियाँ निराकांक्ष होने के कारण आत्मज्ञान की अंग नहीं हो सकती।[3]

१. द्रष्टव्यः ब्र०सि० १-३६

२. यथा प्रयाजादयः स्वं स्वमपूर्णवं कुर्वन्तोऽपि दर्शपूर्णमासापूर्वकार्यानुप्रवेशिनः, तथा कर्मविधयः स्वर्गादिकार्या अपि किमिति नात्मज्ञानानुप्रवेशिन इति।
—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० १२३

३. प्रयाजादेः प्रकरणावगतदर्श-पूर्णमासांगत्वनिर्वाहायावान्तरा पूर्वद्वारेण युक्ता प्रधानापूर्वांगता.....
इह तु कर्मविधीनां श्रूयमाणस्वर्गादिफलवत्तया निराकांक्षाणामसत्यंगत्वे नात्मज्ञानकार्यानुप्रवेशित्वमित्यर्थः।—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० २२३

कर्म एवं ज्ञान के परस्पर सम्बन्ध की पुष्टि करते हुए यह कहा जाए कि जिस प्रकार 'व्रीहीन प्रोक्षति' (व्रीहि का प्रोक्षण करता है) इस उदाहरण में प्रकरण से व्रीहि शब्द अपने स्वरूप में अनर्थक होने के कारण प्रकृत अपूर्व शब्द का बोध कराता है।[1] उसी प्रकार आत्मज्ञान के सम्बन्ध में कर्म विधि को उसका अंग समझना चाहिए, तो यह कथन उचित नहीं है क्योंकि आत्मज्ञान के कर्मकाण्ड से बाह्य होने के कारण आत्म-दृष्टान्त कर्मकाण्ड के प्रकरण में नहीं आता।[2] अतः उपर्युक्त दृष्टान्त आत्मज्ञान के सम्बन्ध में चरितार्थ नहीं होता।

पूर्वपक्ष के रूप में एक और दृष्टान्त को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति।'[3] (जिसकी पर्णमयी जुहू[4] होती है), इस उदाहरण के अन्तर्गत जिस प्रकार जुहू आदि, प्रकरण के न होने पर भी अव्यभिचरित कर्म सम्बन्ध के रूप में कर्म को उपस्थापित करते हैं[5], उसी प्रकार आत्मा को भी अव्यभिचरित कर्म सम्बन्ध बनना स्वीकार करना चाहिए। किन्तु यह दृष्टान्त समुचित नहीं है। इसका कारण यह है कि लौकिक कर्म में भी वैदिक कर्म की तरह आत्मा का कर्तृत्व साधारण रूप से इष्ट है। अतः यहाँ उपर्युक्त उदाहरण की तरह अव्यभिचार न होकर व्यभिचार है। इस प्रकार आत्मा को व्यभिचरित कर्म सम्बन्ध वाला नहीं कहा जा सकता।[6]

एक ओर पूर्वपक्ष को स्पष्ट करते हुए अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने कहा है कि देहादि से अतिरिक्त आत्मज्ञान का कर्म को अंग मान लेना चाहिए, किन्तु यह भी समुचित नहीं है क्योंकि वेदान्त के अन्तर्गत बुभुक्षा, पिपासा आदि के

---

१. न तावत् 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इति यथा, तत्र हि प्रकरणात् प्रकृतकर्मापूर्व-लक्षणापरो व्रीहिशब्दः स्वरूपानर्थक्यात् प्रकृतापूर्वसम्बन्धं बोधयति।

२. ब्र०सि०, शंखपाणि व्याख्या, पृ० ३१

३. छा०उ० ८-१५

४. नापि यथा 'यस्य पर्णमयीजुहूर्भवति' इति, तत्र हि जुह्वादि अव्यभिचरित-कर्मसम्बन्धेसत्यपि प्रकरणे कर्मोपस्थापयति।—ब्र०सि० १-३१

५. न च आत्मनोऽपि कर्तृत्वात् कर्माव्यभिचार इति—शंकनीयम् लौकिक-वैदिक-कर्म-साधारणत्वात्।—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० १

६. नाप्यात्मा अव्यभिचरित-कर्म-संबन्धः।—ब्र०सि० पृ० ३१

अतीत आत्मज्ञान की स्थिति में कर्माधिकार का सर्वथा विरोध प्रतिपादित किया गया है।[1] इस सम्बन्ध में कहा है—

"विज्ञाते चास्य पारार्थ्ये याऽपि नाम फलश्रुतिः।
साऽर्थवादो भवेदेव न स्वर्गादिः फलान्तरम्॥"

—अ०प्र० पृ० १२८ से उद्धृत

अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने कर्मों के ब्रह्मस्वरूप में उपयोग के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है कि कर्मों का ब्रह्म स्वरूप में उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है[2]—क्या ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति में अथवा साध्य स्वरूप ब्रह्म में अथवा सहकारी रूप से कर्मों का उपयोग सम्भव है। इस विषय में यह कहा जाएगा कि कर्मों को ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति का कारण इसलिए नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्मज्ञान सर्वथा अनुत्पन्न[3] एवं स्वतः सिद्ध है। ब्रह्मज्ञान तो शाश्वत रूप से जीव के स्वभाव रूप में स्थिति है। अतः उसका तो वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार अनुभव अभीप्सित है, उत्पत्ति नहीं।

जहाँ तक ब्रह्मज्ञान की साध्यता तथा कर्म की साधनता का प्रश्न है, वह भी उचित नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के साध्य न होने के कारण कर्म की साधनता का प्रश्न भी अनुचित ही है।[4] कर्मों की ज्ञान सहकारिता इसलिए उचित नहीं है कि ज्ञान का कोई दूसरा साध्य नहीं है और न उसका मोक्ष ही साध्य है क्योंकि मोक्ष को ज्ञान का साध्य माना जाएगा तो उसके अनित्यत्व का प्रसंग उपस्थित होगा।[5] सिद्धान्ततः यह कहा जाएगा कि ज्ञान ही स्वतः ब्रह्मस्वरूप होने के कारण मोक्ष-स्वरूप है।[6]

---

१. अस्तु तर्हि देहाद्यतिरिक्तात्मज्ञानं कर्मशेष इत्यपि नाशङ्कनीयम् अशनायाद्यतीतस्य कर्माधिकारविरोधिन एव वेदान्तप्रतिपाद्यत्वात्।
—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० १२८

२. किं कर्मणां ब्रह्मस्वरूप उपयोगः तज्ज्ञाने। किं वा तत्साध्ये———नापि तृतीय इत्याह—न च ज्ञानसहकारिणीति।
—अभिप्राय प्रकाशिका पृ० १३१

३. तेषामनुत्पाद एवाद्वैत-ज्ञानस्य प्रसज्यते।—ब्र०सि० पृ० ३२

४. असाध्यत्वात् ब्रह्मणो। न कर्मणामुपयोगो वर्तते।—ब्र०सि० पृ० ३२

५. न च ज्ञानसहकारीणि कर्माणि, ज्ञानस्य साध्यन्तराभावात्, न तस्य मोक्षः साध्यः, अनित्यत्वप्रसङ्गात्।—वही,

६. ब्र०सू०शां०भा० ३-५-५२

एक अन्य प्रकार के कर्म की उपादेयता के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा जा सकता है कि प्रपञ्चग्राही विपर्यय ज्ञान का निमित्त प्रपञ्च संस्कार है तथा प्रपञ्चसंस्कार का निमित्त विपर्यय ज्ञान है। इस प्रकार बीजांकुर-न्याय से दोनों में कार्यकरण भाव होने के कारण निर्निमित्तत्व दोष नहीं कहा जा सकता। अतः इससे स्पष्ट होता है कि विपर्यास का कारण अग्रहण नहीं है।[1] अभिप्रायप्रकाशिका के अनुसार विपर्यास का अर्थ हृदयग्रंथि है।[2] अग्रहण का अर्थ तत्व अर्थात् ब्रह्म तत्व का अग्रहण है। इस प्रकार अग्रहण की निवृत्ति से विपर्यास की स्वयं निवृत्ति नहीं हो जाती। यहाँ अग्रहण का अर्थ परमार्थ-तत्व का अग्रहण है और उस तत्व के अग्रहण की निवृत्ति का अर्थ तत्व-ग्रहण है। इस प्रकार विद्या से ही विपर्यास की निवृत्ति सम्भव है। अतः सम्यक् ज्ञान-स्वरूप साध्य के लिए सहकारी की अपेक्षा है तथा सहकारी की अपेक्षा होने पर कर्म का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जा सकता है।[3] ब्रह्मसिद्धि के व्याख्याकार शंखपाणि ने उपर्युक्त दृष्टि से कर्म की सहकारिता का खण्डन करते हुए कहा है कि ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति के लिए किसी कर्मान्तर की अपेक्षा नहीं है। उदाहरण के लिए शुक्ति एवं रजत के दृष्टान्त में मिथ्या-ज्ञान-पूर्वक सम्यक् ज्ञान हो जाने पर मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति के लिए सम्यक् ज्ञान से पृथक् किसी यत्न की अपेक्षा नहीं है और न सम्यक् ज्ञान से अतिरिक्त किसी कर्म की अपेक्षा है।[4] यहाँ यदि कहा जाए कि जिस प्रकार दांती (दाड़) अर्थात् घास आदि काटने का साधन के द्वारा घास काटी जाती है, उसी प्रकार क्या सम्यक् ज्ञान के द्वारा विपर्यय की निवृत्ति के लिए प्रयत्न नहीं किया जाता अथवा सहकारी कर्म की अपेक्षा नहीं होती। इस शंका का समाधान करते हुए शंखपाणि का कथन है कि सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर उसके पश्चात् मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति के लिए प्रयत्न नहीं किया जाता किन्तु सम्यक् ज्ञान

---

१. उत्तरविपर्यसि पूर्वविपर्यासः तत्संस्कारो वा निमित्तम् नाग्रहणमित्यर्थः।
—अभिप्राय प्रकाशिका पृ० १३३

२. हृदयग्रंथिः विपर्यासः॥—वही पृ० १३४

३. तदेव नाग्रहणनिवृत्या विपर्ययस्य स्वयं निवृतिः। अतो विद्यया सोच्यते, तेन तत्र साध्यस्य सम्यग्ज्ञानस्य सहकार्यपेक्षा स्यात्, सत्यां च तस्यां कर्मणामभि-सम्बन्धः।—शंखपाणि व्याख्या पृ० ९०

४ न च सहकारि वा सम्यक्ज्ञानात अन्यत् किञ्चित् कर्माद्यपेक्षते।
—शंखपाणि व्याख्या, पृ० ९०

के होने पर मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति स्वतः हो जाती है।[1] अतः पृथक् प्रयत्न की अपेक्षा कदापि नहीं है क्योंकि अविद्या के विरोधी भाव अर्थात् ज्ञान के उत्पन्न होने पर अविद्या का विनाश स्वतः हो जाता है। इस सम्बन्ध में गौड-पादाचार्य ने भी कहा है—ज्ञाते द्वैतं न विद्यते।[2] शंकराचार्य ने भी इस संबन्ध में विद्या के द्वारा अविद्या रूप बीजशक्ति के विनाश की बात कही है।[3] अतः उपर्युक्त दृष्टि से विचार करने पर सम्यक् ज्ञान के सहकारी के रूप में कर्म की अपेक्षा सिद्ध नहीं की जा सकती। इस विषय में अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने स्पष्ट ही कहा है—

कर्मणामविद्याकार्यतया विद्योत्पत्तौ कार्येण सहाविद्यानिवृत्तौ, तन्निवृत्तये न कर्मापेक्षा।[4]

अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने एक और प्रकार से ज्ञान में कर्म की उपादेयता के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है कि कर्म के बन्धन का हेतु होने के कारण तथा केवल ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति सम्भव न होने से ज्ञान के सहकारी के रूप में नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों की अपेक्षा स्वीकार करनी चाहिए।[5] किन्तु इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य चित्सुख का कथन है कि कर्मों के अविद्या के कार्य होने के कारण, विद्या अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति होने पर कार्य के साथ अविद्या की भी निवृत्ति हो जाएगी। अतः उसकी निवृत्ति के लिए कर्म की अपेक्षा नहीं है।[6] इस विषय में निम्नोद्धृत श्रुति प्रमाण है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।[7]

---

१. न हि दात्रमिव सम्यग्ज्ञानमुत्पाद्य पश्चान्मिथ्याज्ञाननिवृत्तये व्यापार्यते। किं तर्हि तदुत्पाद एव मिथ्याज्ञाननिवृत्तिः।
—शंखपाणि व्याख्या पृ० ९०

२. गौडपादकारिका १-१८

३. विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्।—ब्र०सू०शा०भा० १-४-३

४. अभिप्रायप्रकाशिका पृ० १३४

५. कर्मणो बन्धहेतुत्वात् केवलज्ञानान्निवृत्त्ययोगात् तत्सहकारित्वेन नित्य-नैमित्तिककर्माण्यपेक्ष्यन्ते। —अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० १३४

६. कर्मणामविद्याकार्यतया विद्योत्पत्तौ कार्येण सहविद्यानिवृत्तौ तन्निवृत्तये न कर्मापेक्षेति। —अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० १३४

७. शंखपाणि व्याख्या, पृ० ३३

अभिप्रायप्रकाशिकाकार के अनुसार ज्ञानोदय होने पर समस्त अज्ञान तथा विपर्यास (हृदयग्रन्थि) की निवृत्ति स्वतः हो जाती है।[1] अतः ज्ञान को पुनः कर्मादि की अपेक्षा नहीं होती। यदि कहा जाए कि इस प्रकार का ब्रह्मभाव प्राप्त होने पर क्या अन्तर पड़ता है, तो कहा जाएगा कि आत्मज्ञानी के लिए कोई कामना न होने के कारण कर्म की अपेक्षा भी नहीं होती। वही ज्ञानी के स्वभाव का अज्ञान दशा से स्वभाव से अन्तर है। बृहदारयक उपनिषद् में इसी तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

आत्मानं वेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।।[2]

अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद को मण्डनमिश्र का अभिमत सिद्धान्त माना है। तदेवं वाक्यार्थज्ञानमात्रादयो : कृतकृत्यतेति मन्यमानानां मतमुपन्यस्य स्वाभिमतं ज्ञानकर्मणो : सम्बन्धमवतारयति।[3]

इस सम्बन्ध में मण्डनमिश्र का स्पष्ट सिद्धान्त है कि प्रमाण द्वारा तत्व का निश्चय होने पर मिथ्यावभास की निवृत्ति हो जाती है, किन्तु हेतु विशेष के द्वारा उनकी अनुवृत्ति भी होती है। उदाहणार्थ आप्त वचनों के द्वारा किसी पथिक के लिए दिङ् निर्देश किये जाने पर तथा दिशा बोध होने पर भी पूर्व संस्कार के आधार पर दिग्भ्रम हो जाता है। एवञ्च एक चन्द्र का बोध होने पर भी भ्रम से द्विचन्द्र का बोध होता है। उसी प्रकार आम्नाय के द्वारा आत्म तत्व का ज्ञान होने पर भी अनादि मिथ्यादर्शनाभ्यास एवं उससे उपचित बलवान् संस्कारों को सामर्थ्य से मिथ्या आवभास की अनुवृत्ति होती है। अतः मिथ्यावभास की इस अनुवृत्ति को निवृत्ति के लिए प्रमुख रूप से दो अपेक्षाएं हैं—एक तो तत्वदर्शन का अभ्यास तथा यज्ञादि का सम्पादन। तत्वदर्शन के अभ्यास से संस्कार में दृढता आती है नया इससे अज्ञान के पूर्वसंस्कार का बोध होता है तथा यज्ञादि किसी अदृष्ट प्रकार से मिथ्या अवभास की निवृत्ति में सहायक होते हैं।[4]

---

१. अवगतब्रह्मात्मभावः विदितात्मयाथार्थ्य इति चाज्ञान-विपर्यासयोः क्रमेण निवृत्तिरुक्ता। —अभिप्रायप्रकाशिका पृ० १३८

२. बृहदा० उप० ४-४-१२

३. द्रष्टव्य : अभिप्राय प्रकाशिका पृ. ३८

४. अभ्यासो हि संस्कारं द्रढयन् पूर्वसंस्कारं प्रतिबध्य स्वकार्यं संतनोति, यज्ञादयश्च केनाप्यदृष्टेन प्रकारेण।—ब्र. सि. पृ. ३५

इस सम्बन्ध में पूर्व पक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि समाहित चित्त का अभ्यास करने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः उसके लिए यज्ञादि की अपेक्षा नहीं है अर्थात् यज्ञादि के बिना भी अभ्यास से स्वज्ञान संभव है। इस सम्बन्ध में ब्रह्मसिद्धिकार कहते हैं कि यह उचित है एवं जो ऊर्ध्वरेतस् आश्रमी जन हैं उसमें यज्ञादि के बिना भी अभ्यास से विशुद्ध ज्ञान का उदय होता है। किन्तु इसमे अधिक समय लगता है। अतः मण्डनमिश्र का कथन है कि साधन विशेष के द्वारा विद्या का उदय शीघ्र होता है तथा उसके अभाव में अधिक से अधिक समय लग सकता है।[1] इसी तथ्य को निम्निलिखित सूत्र में ग्रथित किया गया है—

सर्वापेक्षा यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्।[2]

इस प्रकार मण्डनमिश्र का कथन है कि "यज्ञेन दानेन[3] इत्यादि श्रुतियां भी अभ्यास लभ्य विद्योत्पत्ति के लिए कर्म की अपेक्षा सिद्ध करती हैं। एवञ्च मण्डनामिश्र का सिद्धान्त है कि यद्यपि जिस प्रकार गंतव्य ग्राम प्राप्ति वाहनांतर से भी संभव है, किन्तु अश्व के द्वारा वह शीघ्रता से सम्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार यज्ञादि कर्म के सम्पादन से ज्ञान की प्राप्ति शीघ्रता से सम्पन्न हो जाती है—

'एषोऽर्थः यज्ञेन दानेन' इति श्रवणात् कर्माण्यपेक्ष्यन्ते विद्यायामभ्यास-लभ्यायामपि, यथान्तरेणाप्यश्वं ग्राम-प्राप्तौ सिद्धन्त्यां शैघ्रयायाक्लेशायवाश्वे-ऽपेक्ष्यते।[4]

ज्ञान के सम्बन्ध में कर्मापेक्षा का विचार करते हुए यह शंका भी की जाती है कि जब ब्रह्म विद्या अर्थात् ज्ञानस्वरूप है, विद्या ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है तथा ब्रह्म नित्यतया अकार्य है। अतः उस ब्रह्मज्ञान के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा किस प्रकार हो सकती है।[5] इस विषय में अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यद्यपि साक्षात् रूप से

---

१. साधनविशेषाद्धि सा क्षिप्रं क्षिप्रतरं च व्यज्यते, तदभावे चिरेण चिरतरेण च।—ब्र. सि० पृ० ३६

२. ब्र. सू. ३/४/२६

३. वृ. उ. ५-४-२२

४. ब्र. सि. पृ ३७

५. ननु विद्यारूपं ब्रह्मैव, न विद्या ब्रह्मणोऽन्या, तच्च नित्यमकार्यम्; तत्र कथं किञ्चिदपेक्ष्यते।—ब्र. सि. ३७

ब्रह्म अपरोक्षतया वर्तमान है किन्तु अनादि अविद्या से तिरोहित होने के कारण, अविद्या की निवृत्ति के लिए वेदान्त वाक्यों से उत्पन्न अखण्ड ब्रह्म के आकार से आकारित अन्तःकरणवृत्तिस्वरूपा विद्या अपेक्षणीय है।[1] इस प्रकार उपर्युक्त दृष्टि से विचार करने पर ज्ञान के सम्बन्ध में कर्म की उपादेयता पूर्वोक्त दृष्टि से निःसंदेह सिद्ध है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा तत्त्वसाक्षात्कार

उपनिषदें वेदान्त विद्या एवं आत्मविद्या की प्रमुख आधार हैं। इनमें यद्यपि स्पष्ट रूप से आत्मा को इन्द्रियातीत सिद्ध करते हुए, "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुधा श्रुतेन"।[2] तथा "यन्मनसा न मनुते"[3] आदि श्रुतियों के आधार पर नित्य लब्ध स्वभाव कहा है[4] तथापि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः", "श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्य"[5] एवं मनसैवानुद्रष्टव्यम्[6] आदि श्रुति-वाक्य श्रवणादि के द्वारा आत्मा के साध्यत्व का प्रतिपादन करते हैं। यहां एक ओर आत्मा की श्रवणादि के द्वारा साध्यता सिद्ध करने वाले श्रुति वाक्यों और दूसरी ओर उनकी इन्द्रियों के द्वारा असाध्यता प्रतिपादित करने वाले वाक्यों में विरोध का अनुभव करना उचित प्रतीत होता है इस सम्बन्ध में वह कथन समीचीन ही होगा कि श्रवणादि के द्वारा जहाँ आत्मा की साध्यता स्पष्ट की गई है, उसका आशय यही है कि आत्मा के नित्य लब्ध स्वभाव होते हुए भी श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा उसका अनुभव होता है। अतः श्रवणादि की साधनता आत्मनुभव के लिए समझनी चाहिए यह निस्सन्देह सत्य है कि आत्मानुभव स्वरूप आत्मा इन्द्रियादि का विषय किस प्रकार हो सकता है।

उपर्युक्त दिङ्निर्देश से तत्वसाक्षात्कार में श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन की उपादेयता स्पष्ट प्रतीत होती है। जहाँ तक ब्रह्मसिद्धिकार मण्डनमिश्र एवं

---

१. साक्षादपरोक्षस्यापि ब्रह्मणोऽनाद्यविद्यातिरोहितत्वात् तन्निरासाय ब्रह्माकाराकारिकान्तःकरणवृत्तिर्वेदान्तवाक्यजन्या विद्याऽपेक्षणीया।
—अभिप्रायप्रकशिका १४४

२. मुण्डक उप, ३-२-३

३. केन. उप. ५

४. नित्यलब्धं स्वभावत्वात् शा. भा. मु. उ. ३-२-३

५. बृ. उप. २-४-५

६. बृ. उप. ४-४-१९

अभिप्राय प्रकाशिका के लेखक चित्सुखाचार्य का प्रश्न है, इन आचार्यों ने भी उपनिषदों के उपर्युक्त दृष्टिकोण के आधार पर श्रवणादि की उपयोगिता यत्-किञ्चित् 'न नु, न च' के साथ स्वीकार की है। श्रवण से वेदान्त प्रतिपादक श्रुतियों का तात्पर्य है। इसीलिए आचार्य शंकर ने आत्मा को पूर्वाचार्यों तथा आगम से श्रोतव्य कहा है।[1] वेदान्तसार के लेखक सदानन्द ने छः प्रकार के लिङ्गों के द्वारा समस्त वेदान्त वाक्यों के अद्वैत वस्तु (पर ब्रह्म) में निश्चय को श्रवण कहा है।[2] यहाँ लिङ्गों से उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास अपूर्णता, फल एवं अर्थवाद का तात्पर्य है।[3] मनन का अर्थ शंकराचार्य के अनुसार श्रुति का तर्क के आधार पर मनन है। भावशुद्धि के लेखक आनन्दपूर्ण मुनि ने आम्नाय के समर्थक न्याय के आधार पर की गई व्यवस्था को मनन कहा है।[4] सदानन्द ने श्रवण की गई व्यवस्था को मनन[5], अद्वैत वस्तु के सम्बन्ध में, वेदान्त के अनुकूल युक्तियों के द्वारा किये गए अनवगत चिन्तन को मनन कहा है।[6] निदि-ध्यासन को स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकर ने कहा है कि आत्मा निश्चित रूप से ध्यातव्य अर्थात् ध्यान करने योग्य है। भावशुद्धि के अन्तर्गत मनन के द्वारा व्यवस्थित विषय में बुद्धिधारा के आधान को ध्यान कहा है।[7] सदानन्द ने निदिध्यासन को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि विजातीय (विरोधी) देहादि प्रत्ययों से रहित अद्वैत ब्रह्म विषय में सजातीय विचारधारा का प्रवाह निदि-ध्यासन है।[8]

---

१. श्रोतव्यः पूर्वं आचार्यत आगमतश्च।—शा०भा०बृ०उ० २-४-३

२. श्रवणं नाम षड्विधिलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्।—वेदान्तसार, पृ० १०७

३. द्रष्टव्यः वेदान्तसार पृ० १०७

४. आम्नायाविरोधिना न्यायेन व्यवस्थापना मननम्।
—भावशुद्धि, पृ० १४०

५. मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्।
—वेदान्तसार पृ० १०८

६. ततो निदिध्यासितव्यः निश्चयेन ध्यातव्यः।—बृ०उ० २-४-५

७. व्यवस्थितविषये बुद्धिधाराऽऽधानं ध्यानम्।—भावशुद्धि पृ० १४०

८. विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्।
—वेदान्तसार पृ० १०३

श्रवणादि में श्रवण का सर्वप्रथम उल्लेख होने के कारण तत्वसाक्षात्कार के सन्दर्भ में उसकी उपादेयता प्रथमतः सिद्ध है। ब्रह्मसिद्धिकार मण्डनमिश्र ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि शब्दभाव से प्रतिपत्ति अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति होती है।[1] परन्तु औपनिषद ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् मनन तथा निदिध्यासन एवं शम, दम, ब्रह्मचर्य तथा यज्ञादि साधन की भी अपेक्षा है।[2] यह स्पष्ट है कि मात्र श्रवण ही नहीं, अपितु समन्वित रूप से श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन, इन तीनों को ही अपेक्षा है। अभिप्राय-प्रकाशिकाकार आचार्य चित्सुख ने भी श्रवण ज्ञान के साथ-साथ मनन निदिध्यासन तथा शमादि की तत्वसाक्षात्कार में उपयोगिता को स्वीकार करते हुए कहा है—

शब्दज्ञानोत्तरकालं मननादिविधानाच्च न तावन्मात्रेण कृतकृत्यता।
शमादिविधानान्यथानुपपत्याऽप्येवमवगम्यते।[3]

ब्रह्मसिद्धिकार ने भी कहा है कि प्रमाणों से तत्वदर्शन होने पर भी अनादिमिथ्या दर्शन के अभ्यास से दृढ़ता को प्राप्त अज्ञानात्मक संस्कार के अभिभव एवं उच्छेद के लिए तत्वदर्शन का अभ्यास अपेक्षित है और इसीलिए मनन एवं निदिध्यासन की अपेक्षा है। किन्तु फिर भी यह स्मरण रखना परमावश्यक है कि औपनिषद ज्ञान अथवा श्रवण की तत्वज्ञान के लिए सर्वप्रथम अपेक्षा है तथा औपनिषद ज्ञान के अनन्तर ही शम, दमादि साधन विशेष तत्वसाक्षात्कार में सहायक हो सकते हैं।[4]

शाब्दापरोक्षवाद एवं शाब्दपरोक्षवाद—

श्रवणजन्य ज्ञान के सम्बन्ध में शाब्दापरोक्षवाद एवं शाब्दपरोक्षवाद का बोध भी आवश्यक है। शाब्दापरोक्षवाद के अनुसार औपनिषद ज्ञान के द्वारा अपरोक्ष रूप से तत्व ज्ञान संभव है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इन्द्रिय

---

१. शब्दमात्रात् प्रतिपत्तेः उत्पत्तिः।—ब्र०सि० पृ० १३६

२. तथा च 'मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इत्युच्यते, शमदम—ब्रह्मचर्यादिसाधनविधानं च, अन्यथा कस्तदुपदेशार्थः स्यादेतत्-ब्रह्मचर्यादिसाधनोपकरणादेवाम्नायात् तत्वविज्ञानम्।—ब्र०सि० पृ० ३५

३. अभिप्रायप्रकाशिका पृ० १४०

५. तस्याज्जातेऽपि प्रमाणात् तत्त्वदर्शने अनादिमिथ्यादर्शनाभ्यासपरिनिष्पन्नस्य द्रढीयसः संस्कारस्याभिभवायोच्छेदाय वा तत्त्वदर्शनाभ्यासं मन्यन्ते। तथा च 'मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्युच्यते।—ब्र०सि० पृ० ३५

जन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष नहीं है, अपितु शब्द से भी प्रत्यक्ष होता है। 'मनसैवानु-द्रष्टव्यम्' आदि के आधार पर जहाँ मनसा आत्मज्ञान की बात कही गई है, वहाँ भी शब्दोपजीवन मात्र से मन से साक्षात्कार की व्यवस्था समझनी चाहिए।[1]

ब्रह्मसिद्धिकार का मत—

इस सम्बन्ध में ब्रह्मसिद्धिकार का मत है कि मनन पर आधारित प्रसंख्यान-अनुमान ही साक्षात्कार रूप से अपरोक्षज्ञान का कारण है।[2]

अभिप्रायप्रकाशिकाकार का मत—

अभिप्रायप्रकाशिकाकार के अनुसार भी 'पर्वतो वह्निमान्' (पर्वत वह्नि-मान् है) इस उदाहरण में यद्यपि अनुमान-जन्य-ज्ञान है तथापि सन्निकृष्ट पर्वतांश में प्रत्यक्ष होता है।[3]

जहाँ तक शाब्दपरोक्षवाद का प्रश्न है, शाब्दज्ञानमात्र से अज्ञान की निवृत्ति संभव नहीं है। अतः शाब्दज्ञान के द्वारा तो अखण्ड ब्रह्म विषयक ज्ञान परोक्ष ज्ञान है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि परोक्षज्ञान ही अभ्यास के द्वारा अज्ञान का निरसन करते हुए अपरोक्षज्ञान का हेतु बनता है। इस विषय का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। यहाँ यह भी निर्देशयोग्य है कि अपरोक्ष साक्षात्कार की स्थिति तक स्थितप्रज्ञ की साधकावस्था कहलाती है। और उसके पश्चात् की स्थिति सिद्धावस्था कहलाती है।

जगन्मिथ्यात्म का स्वरूप

जैसाकि द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है, मण्डनमिश्र

---

१. तत्र शब्देनाप्यपरोक्षज्ञानं भवितुमर्हति, नेन्द्रियजमेव ज्ञानं प्रत्यक्षमिति नियम इति शाब्दपरोक्षवादव्यवस्था वार्तिकेनोपक्षिप्यते————इति परम्परया शब्दोपजीवनमात्रेण मनसैव साक्षात्कार इति पक्षमपि वार्तिकं स्वीकरोति ।।—अनन्तकृष्ण शास्त्री, ब्र०सि० भूमिका पृ० १११-११२

२. मननाद्वयं प्रसंख्यानमनुमानमेव साक्षादपरोक्षकारणमिति ब्रह्मसिद्धि—मतमिति परं विशेषः।—अनन्तकृष्णशास्त्री ब्र०सि० भूमिका, पृ० ११२

३. इदमेवाभिप्रेत्याभिप्रायप्रकाशिका 'पर्वतो वह्निमानि' त्यत्रानुमानजन्यमपि ज्ञानं पर्वतांशेसन्निकृष्टेऽपरोक्षमिति वदति।

—अनन्तकृष्णशास्त्री ब्र०सि० भूमिका पृ० ११२

शब्दाद्वैतवाद सिद्धान्त के समर्थक हैं। उन्होंने भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद के समान ही[२] शब्द को परब्रह्म के रूप में स्वीकार किया है तथा जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहा है। शांकर वेदान्त के अन्तर्गत भी जगत् को ब्रह्म का विवर्त सिद्ध करते हुए अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की गई है। किन्तु मण्डनमिश्र की विवर्त पद्धति शंकराचार्य से कुछ भिन्न है। शब्दाद्वैतवाद का आधार ओमित्येतदक्षरमुद्गीथः, "ओमिति ब्रह्म, ओमिति इदं सर्वम्"[४] आदि श्रुतियाँ ओंकार की शब्दब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठा करती हैं। जहां तक प्रपञ्च रूप नाम-रूपात्मक जगत् का प्रश्न है, वह भी शब्द का प्रपञ्च मात्र है। किन्तु यहाँ यह कहना अत्यावश्यक है कि नामरूपात्मक जगत् की सत्ता ब्रह्म से अतिरिक्त किसी प्रकार नहीं है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार रज्जु एवं सर्प के उदाहरण में सर्प की सत्ता किञ्चिन्-मात्र भी नहीं है। अतः ब्रह्म और जगत् के उदाहरण में भी जगत् की सत्ता केवल आविद्यिक एवं कल्पना मात्र है। वस्तुतः ब्रह्म की ही सत्ता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान तथा जगत् उसका विवर्त है तथा शब्द ब्रह्म एवं प्रपञ्च रूप जगत् में अद्वैतभाव है।[५]

इस सम्बन्ध में अभिप्रायप्रकाशिकाकार का कथन है कि जिस प्रकार मृत्तिका के घटादि अनेक रूप मृत्तिका से भिन्न नहीं है तथा जिस प्रकार एक चन्द्रमा के अनेक प्रतिबिम्बो का दर्शन होने पर भी अनेक चन्द्र मूल चन्द्र से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार वह गौ है तथा "यह घट है" आदि जागतिक अनुभव भी शब्द पर आश्रित होने के कारण शब्दात्मक[६] ही हैं, शब्द से अतिरिक्त नहीं। इस प्रकार शब्दार्थ प्रक्रिया के आधार पर विवर्तवाद का आश्रय लेकर शब्दब्रह्मवाद के अन्तर्गत जगत् की स्थिति को सुलझाया गया है। इस प्रक्रिया

---

१. अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥—वाक्यपदीय, ब्रह्मखण्ड-१

२. अतो वाचो विपरिणामो विवर्तो वावसीयते।—ब्र० सि०पृ० १८

३. छा०उ० १-१-५

४. तै०उ० १-८-१

५. अत्र हि सर्ववागनुगमेन———— वाग्रूपात्यागाच्च रूपप्रपञ्चस्य "ओंकार एवेदं सर्वम् इत्युपसंहरति।" ब्र० सि० पृ० १७

६. तस्मादर्थगतो विशेषणविशेष्यभावः तद्द्वारा शब्दयोः प्रतीयते इत्यभ्युपेयम्। ततः शब्दार्थयोः तादात्म्यं सिद्धम्।—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ८६

का सारांश यह है कि जगत् का अधिष्ठान शब्द है एवं अर्थ उसका विवर्त हैं। एवञ्च जगत् अर्थ रूप ही है तथा अर्थ शब्द से अतिरिक्त नहीं हैं। यहां यह कहना अपेक्षित है कि शब्द से चक्षुरादि के समान अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती और न ही धूम से विलक्षण अग्नि की प्रतिपत्ति के समान शब्द से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। शब्दार्थ की 'प्रतिपत्ति तो नीलमुत्पलम्' के उदाहरण से स्पष्ट की जाती है। अभिप्राय प्रकाशिकाकार का कथन है कि "नीलमुत्पलम् (नीलकमल) है" इस उदाहरण में नील एवं उत्पल शब्द में जो विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध है, वह अर्थगत होकर तत्पश्चात् नील एव उत्पल शब्दों में प्रतीत होता है तथा इस प्रकार शब्द एवं अर्थ इन दोनों का तादात्म्य सिद्ध होता है।[1] 'अतः नीलमुत्पलम्' के अन्तर्गत विशेषण-विशेष्य भाव अर्थगत होकर शब्द में प्रतीत होता है, यदि ऐसा नहीं स्वीकार किया जाएगा तो उसमें दोष होगा। दोष इसप्रकार होगा कि उक्त प्रक्रिया के विपरीत यदि शब्दों में स्वतः सामान्याधिकरण्य से विशेषण-विशेष्य भाव होगा तब तो वाकवत्व एवं ऊर्ध्वत्व में जो अपने से भिन्न स्थाणु का बोध कराते हैं सामान्यधिकरण्य नहीं होगा, अपितु ऊर्ध्वत्वे सति वाकवत्वात् स्थाणुः। इस प्रकार व्याधिकरण स्वरूप नीलोत्पल शब्दों के द्वारा अर्थान्तरभूत अर्थ की प्रतीति होगी जो अभीष्ट नहीं है। अतः जैसा कि कहा जा चुका है, विशेषण-विशेष्य भाव को अर्थगत मानते हुए तद्-द्वारा उसकी शब्दों में प्रतीति स्वीकार करनी चाहिए। उसी प्रकार शब्दार्थ का तादात्म्य सिद्ध होता है।

अर्थ को शब्द का विवर्त एक अन्य प्रकार से भी सिद्ध किया जा सकता है और इस प्रकार वह प्रवृति एवं निवृति के आनुगुण्य से भी शब्द तत्व ही अनेक रूपों में अवभासित होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि विधि एवं निषेध का विषय क्या है— काल अथवा कार्य। यदि कहा जाए कि काल निवृत्ति का विषय है तो यह अनुचित है क्योंकि विधि-निषेध की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, भूत में वर्तमान में और न भविष्यत् में संभव है। इसका कारण यह है कि भूतकाल तो इसलिए विधि, निषेध का विषय नही हो सकता क्योंकि वह भूत होने के कारण व्यक्ति की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का विषय नहीं हो सकता। जहाँ तक वर्तमान की बात है, वह इसीलिए प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का विषय नहीं बन

---

१. ऊर्ध्वत्व-काकनिलयनाभ्यां सप्तमी-पञ्चमीनिष्टत्वेनासमानाधिकृताभ्या-मर्थान्तरस्य स्थाणोः प्रतीतेः, नीलोत्पलपदाभ्यामप्यसमानाधिकृताभ्या-भेदार्थगतो विशेषण-विशेष्यभावः प्रतीयेत न च तथाऽस्ति।

अभिप्राय प्रकाशिका पृ० ८६

सकता, क्योंकि वह स्वयं ही स्थित है। अतः उसके प्रति प्रवृत्ति एवं निवृत्ति निष्प्रयोजन है जहाँ तक भविष्यत् का प्रश्न है उसके व्यक्ति की पहुँच से बाहर होने के कारण उसके सम्बन्ध में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति असंभव है। इस प्रकार स्पष्ट ही काल के विषय में विधि एवं निषेध की प्रवृत्ति की संभावाना करना निरर्थक है। यदि कहा जाए कि वह विधि-निषेध की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति कार्य में में होगी, तो यह भी ठीक नहीं है, क्यों कि कालत्रय के अतिरेक से कार्यता का निरुपण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार विधि एवं निषेध की प्रवृत्ति का विषय न काल है और न कार्य। इससे यहभी स्पष्ट होता है कि काल एवं कार्य के अतिरिक्त कुछ न होने के कारण प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का विषय वास्तकि कुछ नहीं है प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का विषय शशविषाण के समान अवस्तु रूप है। उसी प्रकार विधि एवं निषेध से भी ज्ञान की उपलब्धि होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि विधि एवं निषेध की प्रवृत्ति का विषय वास्तविक न होकर प्रतिभा मात्र का फल हैं अतः प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के अनुकूल प्रतिभा मात्र ही विधि निषेध रूप है। एवञ्च प्रतिभा ज्ञानस्वभाव शीला होने के कारण आश्रय रहित नहीं हैं[1] नथा वह शब्द रूप से परामर्श से रहित भी नहीं है।[1] अतः शब्द तत्व ही अनेक प्रकार से विवृत रूप से प्रतिभा में अवभासित होता है।[2] इस प्रकार वाक्यार्थ तो संसर्ग रूप है, संसर्गी के बिना कुछ नहीं है तथा संसर्गी असंसर्गी रूप के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[3] यहां संसर्गी का अर्थ संसर्ग-विशिष्ट पदार्थ है।[4] इसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय से रहित नहीं है। तथा अनेक विकल्पों के प्रत्यय भी वाक्रूप से रहित नहीं है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि वाक्तत्व ही विभिन्न रूपों में विवर्त रुप से प्रतीत होता है तथा वाक्यार्थ अवस्तुभूत है।[5]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि समस्त विषय-जगत् मिथ्या है तथा मात्र शब्द तत्व अथवा वाक्तत्व ही एक मात्र सत्य है। यह शब्द तत्व ही ओंकार एवं ब्रह्मस्वरूप है। वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे,

---

१. न चानालम्बना-ज्ञानस्वभावत्वात् प्रतिभा युक्ता।— ब्र०सि० पृ० १८.

२. तथा-तथा विधिरूपेण निषेधरूपेण च विवर्तमानं शब्दतत्त्वमेवं प्रतिभायामवभासते।—अभिप्राय प्रकाशिका पृ० ५८

३. संसर्गी संसर्गविशिष्टः पदार्थः।— अभिप्राय प्रकाशिका पृ० ८९.

४. संसर्गी असंसर्गिरूपातिरिक्ता।— ब्र०सि० पृ० १०

५. अवस्तुभूतो वाक्यार्था।—अभिप्राय प्रकाशिका पृ० ८८

'वागेवेदं बुभुजे वागुवाच' आदि श्रुतियाँ भी उपर्युक्त तथ्य का ही प्रतिपादन करती है। अभिप्रायप्रशिकाकार ने भी ब्रह्मसिद्धि के आधार पर शब्दब्रह्मवाद की स्थापना करते हुए जगत् को शाङ्कर अद्वैतवाद कि तरह विवर्त मात्र स्वीकार किया है। अतः जिस प्रकार शाङ्कर वेदान्त में जगत् की स्वतन्त्र सत्ता न होकर ब्रह्म एवं जगत् में अनन्यत्व सिद्ध किया गया है, उसी प्रकार अभिप्रायप्रकाशिकाकार चित्सुखाचार्य के अनुसार भी शब्द ब्रह्म एवं जगत् में अनन्यत्व है। अब यहां जगत् के सम्बन्ध में अनिर्वचनीय-ख्याति का निरूपण किया जएगा।

अनिर्वचनीयख्यातिवाद का निरूपण

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत ख्यातिवाद सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। ख्यातिवाद के आधार पर भारतीय दर्शन में जगत् के स्वरूप की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। ख्याति शब्द की निष्पत्ति ख्या (प्रकथने) धातु से क्तिन् प्रत्यय होने पर होती है। जिसका अर्थ दर्शन की सीमा में ज्ञान होता है किन्तु अद्वैत वेदान्त में ख्याति से मिथ्या ज्ञान का आशय है। उदाहरण के लिए शुक्ति में रजत एवं रज्जु में सर्प का ज्ञान मिथ्या ज्ञान ही है। ज्ञान का ख्याति के रूप में विवेचन आचार्यों के द्वारा विभिन्न प्रकार से किया गया है। उदाहरण के लिए विज्ञानवादी बौद्ध ने आत्मख्यातिवाद, शून्यवादी बौद्ध ने असत् ख्यातिवाद मीमांसीक ने अख्यातिवाद, नैयायिक ने अन्यथाख्यातिवाद, रामानुज ने सत्ख्यातिवाद तथा अद्वैत वेदान्तियों ने अनिर्वचनीयख्यातिवाद के आधार पर शुक्ति में रजतादि मिथ्या ज्ञान की व्याख्या की है।

निम्नलिखित श्लोक में ख्यातियों का निरूपण इस प्रकार मिलता है—

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिरन्यथा।
तथाऽनिर्वचनीयख्यातिरित्येतत् ख्याति-पंचकम् ॥

उपर्युक्त श्लोक में आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति तथा अनिर्वचनीय ख्याति का निर्देश तो मिलता है, किन्तु सत्ख्याति का नहीं। सत्ख्याति का विवेचन वेदान्त के मूल[1] एवं अन्य ग्रन्थों[2] में स्पष्ट रूप से

१. श्रुतप्रकाशिका, श्री भाष्य, १-१-१

२. शंकर चैतन्य भारती, ख्यातिवाद :(Saraswati Bhawan Text, A.K. Ray Choudhari : The doctrine of Maya, Calcutta, 1950).

मिलता है। इस प्रकार सत्ख्याति को मिलाकार छः ख्यातियाँ है। यहां इन ख्यातियों के सम्बन्ध में संक्षिप्त निरूपण अपेक्षित है।

आत्मख्यातिवाद का सिद्धान्त—

आत्मख्यातिवाद के प्रवर्तक विज्ञानवादी बौद्ध हैं। आत्मख्यातिवादी आचार्यों में महायानसूत्रालंकार के लेखक असंग का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। आत्मख्यातिवादी शुक्ति में प्रतिभासित रजत को बाह्य न मानकर बुद्धिगत मानते हैं। इस प्रकार चित्त ही आत्मख्यातिवादी के अनुसार बाह्य जगत् का आधार है।[1] अतः इस मत में रजतादि की बाह्य सत्ता न होकर ये चित्तगत ही हैं।

असत्ख्यातिवाद का सिद्धान्त—

असत्ख्यातिवाद के प्रवर्तक शून्यवादी बौद्ध हैं। असत् ख्यातिवादी आचार्यों में नागार्जुन का विशेष योगदान है। असत्ख्यातिवादी बौद्ध शुक्ति में रजत ज्ञान को असत् सिद्ध करता है। असत्-ख्यातिवादी के अनुसार शुक्ति में रजत की प्रतीति विपरीत धर्म की कल्पना मात्र है।[2]

अन्यथाख्यातिवाद—

अन्यथाख्यातिवाद का समर्थक नैयायिक है। अन्यथाख्यातिवादी के अनुसार शुक्ति एवं रजत के उदाहरण में रजत के धर्मों का शुक्ति में आरोप होता है। तथा इस आरोप के कारण ही शुक्ति का रजत रूप से अन्यथा-ज्ञान होता है। इसीलिए यह सिद्धान्त अन्यथाख्यातिवाद के नाम से प्रचलित हुआ है। अन्यथाख्यातिवाद के अनुसार नेत्र एवं दूरस्थ रजत में सम्बन्ध का हेतु रजत का स्मरण है।

अख्यातिवाद का सिद्धान्त—

अख्यातिवाद के समर्थक प्रभाकर प्रभृति मीमांसक आचार्य हैं। अख्यातिवादी के अनुसार शुक्ति में रजत का ज्ञान भ्रम नहीं है। अतः 'इदं रजतम्' इस दृष्टान्त में 'इदं के रूप में यथार्थ ज्ञान होता है और रजत का स्मरण। इससे यह सिद्ध होता है कि संस्कारजन्य सादृश्य के आधार पर हुआ रजत ज्ञान स्मृति मात्र है। इस प्रकार यहाँ यह और उल्लेखनीय है कि व्यक्ति शुक्ति एवं

---

१. देखिए, विवरण प्रमेय संग्रह १-१ तथा Hiriyanna, Introduction to Istasiddhi.

२. ब्र०सू०शा०भा० उपोद्घात

रजत इन दोनों भिन्न-भिन्न ज्ञानों के भिन्न रूप से ग्रहण न होने के कारण ही शुक्ति का रजत रूप से ज्ञान होता है। अतएव यह सिद्धान्त 'भेदाग्रह' कहा जाता है।[1]

सत्ख्यातिवाद का सिद्धान्त—

सत्ख्यातिवाद के प्रवर्तक आचार्य रामानुज हैं। सत्ख्यातिवादी के अनुसार शुक्तिमें रजत ज्ञान मिथ्या न होकर सत् है, इसलिए इस सिद्धान्त का नाम सत्-ख्यातिवाद है। सत्ख्यातिवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु मे वर्तमान है—'सर्वं सर्वात्कम्।' इस प्रकार इस सिद्धान्त के आधार पर रज्जु आदि में सर्वादि ज्ञान मिथ्या न होकर सत् ही है।

अनिर्वचनीय-ख्यातिवाद—

अनिर्वचनीय ख्यातिवाद अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार शुक्ति में रजत ज्ञान को सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा है। शुक्ति मे अध्यस्त रजत एवं रज्जु मे अध्यस्त सर्प सत् इसलिए नहीं है, क्योंकि शुक्ति में अध्यस्त रजत एवं रज्जु में अध्यस्त सर्प का बोध होता है यदि रजत एवं सर्प सत् होते तो ऐसा न होता। क्योंकि सत् का लक्षण त्रिकालाबाधितत्व है (त्रिकालाबाध्यत्वं सत्यवम्) किन्तु रजत को सर्वथा असत् भी नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि रजत शशश्रृंग के के समान मिथ्या न होकर उसकी प्रातिभासिक रूप में प्रतीति होती है। इसी-लिए आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य के अन्तर्गत कहा है—

तथा च लोके अनुभवः शुक्तिका हि रजतवदवभासते।[2]

इस प्रकार जैसे कि शुक्ति में रजत तथा रज्जु मे सर्प की सत्ता अनिर्वच-नीय है, उसी, प्रकार ब्रह्म में जगत् की सत्ता भी अनिर्वचनीय है। जगत की अनिर्वचनीयता में यह हेतु है कि जगत् न परमार्थ रूप से सत् है और न शश-श्रृंग के समान सर्वथा असत् अपितु जगत् की सत्ता सत् एव असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है। अद्वैत वेदान्त में जगत् की सत्ता को आविद्यिक माना है। अतः अविद्या के अनिर्वचनीय होने के कारण जगत् की सत्ता भी अनिर्वचनीय मानी गई है। अविद्या की अनिर्वचनीयता के सम्बन्ध में निरूपण करते हुए शंकराचार्य ने कहा है—

---

१. हरदत्त शर्मा, ब्रह्मसूत्रचतुःसूत्री पृ० १३

२. ब्र०सू०शा०भा० उपोद्घात

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो,
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो ।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो,
महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा ॥ —(वि०चू० १११)

अर्थात् माया न सत् है और न असत् और न सदसत् उभयरूप, न भिन्न (सद्भिन्न) है, न अभिन्न (सद्भिन्न) और न उभयरूप है, न अंगसहित है, न अंगरहित और न उभयरूप । यह तो अत्यन्त अद्भुत एवं अनिर्वचनीय रूपा है ।

ब्रह्मसिद्धिकार ने अविद्या की अनिर्वचनीयता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि अविद्या को ब्रह्म का स्वभाव नहीं कहा जा सकता और न ही उसे ब्रह्म से भिन्न कहा जा सकता है । अविद्या न अत्यन्त असत् है, न सत् । अविद्या सदसत् भी नहीं है क्योंकि कोई भी वस्तु सदसत् दोनों नहीं हो सकती । इस प्रकार अविद्या एवं माया दोनों मिथ्यावभास मात्र है । यदि कहा जाय कि अविद्या ब्रह्म का स्वभाव है तो यह अनुचित है । क्योंकि ब्रह्म स्वतः प्रकाशमान, शाश्वत, चैतन्य एवं अविद्या विरोधी है तथा उसका स्वभाव अग्नि की उष्णता के समान एक जातिबद्ध धर्म है ।[1] जहाँ तक अविद्या विरोधी ब्रह्म का प्रश्न है, वहाँ यह कहा जाएगा कि ब्रह्म से अन्य कुछ भी नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है । अविद्या को सर्वथा असत् अर्थात् आकाश पुष्प के सदृश भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर वह व्यवहार का अंग नहीं बन सकती । जबकि समस्त व्यवहार अविद्या पर ही आश्रित है । इस प्रकार अविद्या को वेदान्त मत में अनिर्वचनीय स्वीकार किया गया है । वेदान्त ही नहीं, सर्वप्रवादी शून्यवादी (समस्त का खंडन करने वाले) एवं विज्ञानवादी के मत में भी अविद्या का अनिर्वचनीयत्व सिद्ध है । जहाँ तक शून्यवादी का प्रश्न है, वहाँ यह कहा जाएगा कि यदि जगत् जैसा कि प्रतीत होता है[2] सत् है तो तो इसे अविद्या नहीं कहा जा सकता । किन्तु शून्यवादी के अनुसार जो सत् है उसे उत्पत्ति तथा सत्ता के लिए स्वतन्त्र होना चाहिए । किन्तु यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रत्येक विषय स्वतन्त्र न होकर किसी न किसी प्रकार पराश्रित एवं परतन्त्र है । अतः जागतिक विषयों को सत् नहीं कहा जा सकता ।

---

१. अग्न्यौष्ण्यादिवद् जाति-प्रतिबद्धो धर्मः स्वभावः ।

—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ५६

२. यथादर्शनं प्रतीयमानरूपेणार्थसत्वे न शून्य-मत-सिद्धिः ।—भावशुद्धि पृ० ५६

परन्तु यदि ये विषय सत् नहीं है तो इन्हें सर्वथा खपुष्प के सदृश असत् नहीं कहा जा सकता। क्योंकि आकाश पुष्प के सर्वथा असत् होने पर ये व्यवहार के अंग नहीं हो सकते। इस प्रकार शून्यवादी के अनुसार जागतिक विषय सर्वथा सत् एव असत् न होने के कारण अनिर्वचनीय सिद्ध होते है। अतः यह द्रष्टव्य है कि जागतिक विषयो की अनिश्चित एव अवर्णनीय प्रकृति का नाम ही शून्यता है।[1] जहाँ तक विज्ञानवादी के मत मे अनिर्वचनीयता का प्रश्न है, यहाँ यह कहना होगा कि उसके अनुसार बाह्य विषयो की सत्ता, मात्र मनोवर्ती है। अतः विज्ञानवादी के अनुसार बाह्य विषय की सत्ता चिद् विषय से भिन्न कदापि नहीं है। उदाहरणार्थ चिद्वर्ती नील-पीत आदि बहिर्दृश्यमान नील पीत आदि से भिन्न नहीं है। अतः विषयों की बाह्य सत्ता सर्वथा चित् तत्व पर आधारित है और इस प्रकार जब बाह्य विषयों की सत्ता का निराकरण नही किया जा सकता तो उनको सत् माना ही जाएगा तथा इस प्रकार उन्हें अविद्या नहीं कहा जा सकता किन्तु विज्ञानवादी बाह्य विषयो को सत् रूप मानने के पक्ष में नहीं है किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि बाह्य विषय सर्वथा असत् है। यदि बाह्य विषयो को सर्वथा असत् कहा जाएगा तो उनकी बाह्य प्रतीति, जैसा कि विज्ञानवादी बौद्ध स्वीकार करता है, सिद्ध नहीं हो सकेगी।[2] इस प्रकार विज्ञानवादी बौद्ध के अनुसार जागतिक विषयों को न लेकर न सत् कहा जा सकता है और न असत्। अतः वे अनिर्वचनीय ही सिद्ध होते है। सद्वादी सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक के अनुसार भी अविद्या का अनिर्वचनीयत्व सिद्ध होता है। यदि बाह्य विषय सत् है तो अनित्य में नित्य की दृष्टि अर्थात् शुक्ति में रजत की दृष्टि को मिथ्या एवं अविद्या नहीं कहा जा सकता।[3] क्योंकि उनकी बाह्य प्रतीति स्पष्ट रूप में देखने मे आती है किन्तु यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अनित्य में नित्य-प्रतीति एवं शुक्ति में रजत की प्रतीति को सत् भी नहीं कहा जा सकता अतः वे अविद्या मात्र ही है।[4] यहाँ तक तर्क

---

१. द्रष्टव्यः (i) Sogen of Buddhistic Thought, P. 14 and 194-98.
(ii) Sarvadarshana-Sangraha, Chapter II, P. 23.
(iii) Keith, Buddhist Philosophy, P. 239, 241

२. अत्यन्तासत्वे बहिरवभासायोप्यगात् खपुष्पवत्।—ब्र०सि० पृ० ६

३. बाह्यार्थवादिनामप्यनित्यादिषु नित्यादिख्यातयो रजतादिविभ्रान्तयश्चाव-भासमानरूपसद्भावे नाविद्यात्वमनुवीरन्।—ब्र०सि०, पृ० ६

४. Balasubramanian, A Study of Brahmasiddhi, p. 80.

प्रस्तुत करना अपेक्षित है कि रजतादि यदि सत् नहीं है तो उन्हें असत् भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यदि वे आकाश पुष्प के समान सर्वथा असत् होंगे तो वे जागतिक व्यवहार के अंग नहीं हो सकते। अतः सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक इन दोनों के मत में भी अविद्या की अनिर्वचनीयता सिद्ध होती है।

कुछ विद्वान् अविद्या की अनिर्वचनीयता से उसकी अवर्णनीयता का अर्थ लेते हुए उसे 'Indescribable' कहते हैं, किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि अविद्या को परमार्थ सत् एवं अलीक सत् से विलक्षण कहना उसके स्वरूप को सर्वथा स्पष्ट कर देता है। अतः अविद्या को अवर्णनीय किस प्रकार कहा जा सकता है एवञ्च अविद्या को अवर्णनीय कहना उचित प्रतीत नहीं होता। उसके लिए तो वेदान्त का पारिभाषिक शब्द अनिर्वचनीय है, यही समुचित है। अविद्या की अनिर्वचनीयता के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह उल्लेखनीय है कि अविद्या यदि सत् एवं असत् से विलक्षण है तो उसका यह अर्थ नहीं है कि उसके अनिश्चित स्वरूप के कारण उसकी निवृत्ति संभव नहीं है।

किन्तु यहाँ यह फिर स्मर्तव्य है कि यदि अविद्या सर्वथा असत् हुई होती तब तो अविद्या से उत्पन्न संसार की सत्ता का प्रश्न भी उपस्थित नहीं होता। और न बन्धन एवं मोक्ष का प्रश्न उपस्थित होता है। अतः वेदान्त में अदृढ़ स्वभाव वाली अविद्या की निवृत्ति सर्वथा युक्त है।[1]

अनिर्वचनीय-ख्याति एवं विपरीत ख्याति—

आचार्य मण्डनमिश्र विपरीत ख्याति स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार शुक्ति में रजत का ज्ञान विपरीत ख्याति है।[2] यदि देखा जाए तो विपरीत ख्याति एवं अनिर्वचनीय ख्याति दोनों एक ही हैं, क्योंकि यहाँ विपरीत शब्द से अनिर्वचनीय का ही अर्थ विवक्षित है। जैसा कि शंकराचार्य के निम्नलिखित भाष्यांश से स्पष्ट होता है।

"अन्ये तु यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते।"[3]

अर्थात् जिस वस्तु में जो अध्यास है वह उसी के (अधिष्ठान अर्थात् शुक्ति रूप वस्तु के) विपरीत धर्म की कल्पना मात्र है। इस प्रकार शुक्ति में रजत से विपरीत धर्म की कल्पना ही है। यद्यपि ऊपर उद्धृत भाष्य में

---

१. अतएव चास्या निवृत्तिरदृढस्वभावायाः।—ब्र०सि० पृ० ९

२. विशेष देखिए, ब्र०सि० पृ० १३६-१५०

३. ब्र०सू०शा०भा० उपोद्घात

'अनिर्वचनीय' शब्द का व्यवहार नहीं है, किन्तु यहां अनिर्वचनीयता स्पष्ट रूप से ध्वनित होती है। उपर्युक्त उद्धरण में अन्य से नैयायिक का संकेत है।

जहां तक शुक्ति के रजत रूप से विपरीत ज्ञान का प्रश्न हैं, इस सम्बन्ध में दो तथ्य विशेष रूप से विचारणीय हैं। प्रथम तो यह कि शुक्ति के रजत रूप में ज्ञान का कारण शुक्ति एवं रजत के भेद का अग्रहण है। इसी को अख्यातिवादी मीमांसक ने 'भेदाग्रह' कहा है दूसरा तथ्य यह है कि दूरवर्ती रजत का ज्ञान सन्निहित पुरोवर्ती रजत के रूप में होता है। उसका यह फल होता है कि द्रष्टा के सामने रजत की सत्ता न होने पर भी शुक्ति की रजत रूप से प्रतीति होती है तथा रजत की सन्निहितता ही विपरीत ख्याति का उदाहरण है। यहां यह विशेष रूप से विचारणीय है कि उपर्युक्त जिन दो तथ्यों का ऊपर संकेत किया है उनमें भेदाग्रह का सिद्धान्त समुचित प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि भेदाग्रह तो अग्रहण स्वरुप होने के कारण अभाव रूप होने से रजत रूप मिथ्या ज्ञान का कारण नहीं बन सकता।[1] विपरीत ख्याति के अनुसार जहां तक रजत के सन्निहित पुरोवर्ती रूप से ग्रहण करने का प्रश्न है, इसका रजत के मिथ्या ज्ञान का हेतु होना समुचित है।[2] अतः जब तक विवेकग्रह के द्वारा द्रष्टा को यह ज्ञान होता है कि सन्निहित पुरोवर्ती रजत सत्य न होकर दूरस्थ रजत ही सत्य है तो उसे वास्तव रूप सत्य, शुक्ति का बोध होता है। इस प्रकार रजत का सन्निहित पुरोवर्ती रूप मिथ्या ज्ञान का कारण है न कि मीमांसक का अभावात्मक भेदाग्रह। विपरीत ख्याति का यही आशय है तथा इसी ख्याति के द्वारा शुक्ति में विपरीत रूप से गृहीत रजत ज्ञान की व्याख्या सम्भव है, न कि 'भेदाग्रह' के द्वारा। इस सम्बन्ध में अभिप्राय-प्रकाशिकाकार का कथन है कि विपरीत ख्याति के स्वीकार न करने पर 'अग्रह' को विभ्रम का कारण मानना तो 'अग्रह' को 'अग्रह' का ही कारण मानना होगा जो सर्वथा अनुचित है।[2]

---

२. न खल्वग्रहणं कस्यचित् प्रसञ्जकम् अभावो हि सः।
—ब्र०सि०पृ० १४३

२. विपरीता तु ख्याति : सन्निहितस्य रजततामभूताम्
रजतस्य वा सन्निहिततामादर्शयन्ती प्रसञ्जयति।—ब्र०सि० पृ० १४३

१. तस्मादवश्यं प्रतिषेध्यप्राप्तये विपरीतख्यातिरूपासनीया।
—ब्र०सि० पृ० १४३

२. विपर्ययख्यात्यनभ्युपगमे वाग्रहो भ्रमनिमित्तमितिवदताऽग्रहस्यैवाग्रहं निमित्तत्वमुक्तं स्यात्।—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ४१२

विपरीत ख्याति के अन्तर्गत जिस विपरीत पद का व्यवहार है, उनका आशय अन्यथाख्यातिवादी ही नहीं, अपितु असत् ख्यातिवादी एवं अनिर्वचनीय ख्यातिवादी वेदान्तियों के द्वारा भी गृहीत हुआ है। अन्यथाख्यातिवादी नैयायिकों के अनुसार पूर्वदृष्ट रजत का शुक्ति में विपरीत रूप से संसर्गाध्याय होता है जो अनिर्वचनीय है । असत्-ख्यातिवादी के अनुसार भी असत् विषय भ्रमवशात् विपरीत रूप से सत् प्रतीत होते हैं। जहां तक अद्वैत वेदान्त का प्रश्न है, वहां भी शुक्ति में अध्यस्त रजत शुक्ति से विपरीत ही तथा यह रजत सत् एवम् असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है।

अद्वैत वेदान्त में भी आत्मा में अनात्मा के अध्यास एवं अनात्मा में आत्मा के अध्ययन के रूप में परस्पराध्यास को स्वीकार किया गया है।[1] कुप्पुस्वामी शास्त्री ने भी ब्रह्मसिद्धि की भूमिका के अन्तर्गत विपरीत ख्याति तथा अनिर्वचनीय-ख्याति को भिन्न न मानकर एक ही माना है।[2]

यदि देखा जाए तो विधि विवेक एवं विभ्रम विवेक ये दोनों कृतियां मण्डनमिश्र की ब्रह्मसिद्धि की प्रमुख आधार शिलाएँ हैं। ब्रह्मसिद्धि के नियोग काण्ड के अन्तर्गत विधि विवेक के तात्पर्य को स्पष्ट किया गया है तथा अनिर्वचनीय-ख्याति के रूप में भ्रमविवेक का आशय व्याख्यात हुआ है।

मण्डनमिश्र के मतानुसार यह भाट्ट सम्प्रदाय सम्मत अन्यथाख्याति अथवा विपरीत ख्याति अद्वैतवादियों को स्वीकार कर लेनी चाहिए। यहां यह उल्लेखनीय है कि वाचस्पति मिश्र जो प्रायशः मण्डनमिश्र का अनुसरण करते हैं, अपनी ब्रह्मसिद्धि की टीका 'तत्वसमीक्षा' के अन्तर्गत अन्यथाख्याति के महत्व को स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि आचार्यों की यह धारणा बन गई थी कि यद्यपि वाचस्पति मिश्र अनिर्वचनीय ख्यातिवाद की प्रतिष्ठा करना

---

१. तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे
प्रमाणप्रमेय-व्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः।

ब्र०सू०शा०भा० उपोदघात

2. Idte maintains that this theory is sound, and when the nature of the object of errorneous cognition is examined, this theory has to be reduced inevitably to form in which it becomes hardly distinguishable from the anyathakhyati of the Advaitins.

Brahmasiddhi Intro. PXXVII.

चाहते थे, किन्तु फिर भी वे अन्यथाख्यातिवाद के पक्षपाती थें। इस सम्बन्ध में कल्पतरूकार अमलानन्द द्वारा उद्धृत निम्नलिखित श्लोक उद्धरण योग्य है।

"स्वरुपेण मरीच्यम्भो मृषा वाचस्पतेर्मतम्।
अन्यथाख्यातिरिष्टास्मैत्यन्यथा जगृहुर्जनाः॥[1]

जहाँ तक सुरेश्वराचार्य का प्रश्न है वे अन्यथाख्याति के समर्थक नहीं है तथा वे इसका खण्डन करते हैं।[2]

---

१. अमलानन्द, वेदातकल्पतरू पृ० २४ (निर्णयसागर १९७१)

२. बृ०भा०वा० २-२८५-२८८ तथा ४५३

ब्रह्मसिद्धि का सिद्धिकाण्ड एवं अभिप्राय प्रकाशिका

ब्रह्म का अनौपनिषदत्व

आनन्दतीर्थ प्रभृति आचार्यों एवं विद्वानों के द्वारा यह पक्ष प्रस्तुत किया गया है कि जो ब्रह्म अखण्ड एवं अवाच्य है उनकी प्रामाणिकता उपनिषदों कि द्वारा किस प्रकार सिद्ध की जा सकती है। इस शंका का आधार 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र०सू० १-१-५) है। इस पक्ष के समर्थन में कहा जाता है कि वाक्य के द्वारा ब्रह्म के अखण्ड स्वरूप का व्याख्यान नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, अन्विताभिधानवाद एवम् अभिहितान्मयवाद की प्रक्रिया के द्वारा ही वाक्यार्थ-बोध संभव है। जहां तक अन्विताभिधानवाद का प्रश्न है, इसके अनुसार अन्वित अर्थ वाले पदों की वाच्यता के कारण अनन्वित, अखण्ड तथा अपदार्थ में वाक्यों का प्रामण्य संभव नहीं हैं। अभिहितान्वयवाद के अनुसार भी यद्यपि वाक्यार्थ अभिहित अर्थ का निबन्धन ही है, न कि पदाधीन फिर भी वहां भी अर्थ के पद से अवधान के बिना प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद एवम् अभिहितान्वयवाद दोनों के ही द्वारा अखण्ड ब्रह्म की वाच्यता सम्भव नहीं है। जहां तक लक्षणा का प्रश्न है, उसके द्वारा भी वेदान्त वाक्यों (औपनिषद वाक्यों) के द्वारा अखण्ड ब्रह्म का निरुपण संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि लक्षण पदान्तर वाच्य में ही संभव है। उदाहरणार्थ गङ्गायां घोष (गंगा में घोषः है) इस उदाहरण के अन्तर्गत गंगा का तीर लक्षण्यार्थ है, जो तीर पद का वाच्य है। किन्तु अखण्ड ब्रह्म का वाचक कोई पद नहीं है। अतः लक्षणा के द्वारा भी औपनिषद वाक्यों के द्वारा अखण्ड ब्रह्म का बोध संभव नहीं है।

---

१. इयमेव शङ्का सिद्धान्त इति श्रीमदानन्दतीर्थपादैरीक्षत्याधिकरणे व्यवस्थाप्यते-ब्रह्म अवाच्यम् नेक्षतेः प्रमाणाविषयत्वात, अवाच्यस्या-प्रमेयत्वादिति सूत्रयोजनया। अनन्तकृष्णशास्त्री—ब्र०सि०भू० पृ०८८

उक्त पक्ष का खण्डन

भाष्यकर आचार्य शङ्कर ने उपर्युक्त शङ्का का समाधान "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" (ब्र०सू० १.१.१) "शास्त्रयोनित्वात् (ब्र०सू० १.१.३) एवं तत्तु समन्वयात् (ब्र० सू० १.१.४.,) सूत्रों के भाष्य के अन्तर्गत प्रस्तुत किया है। उपर्युक्त शङ्का के सम्बन्ध में यह कहा जाएगा कि ब्रह्म का वाच्य, प्रमेय एवं लक्ष्य होना आवश्यक नहीं है। इस सम्बन्ध में भामतीकार वाचस्पति मिश्र का यह दृष्टान्त अत्यन्त समुचित है कि इक्षु, क्षीर एवं गुड आदि का रस वाच्य प्रमेय एवं लक्ष्य नहीं हो सकता अर्थात यह इस प्रकार से अनिर्वचनीय है।

उपर्युक्त शङ्का के सम्बन्ध में ब्रह्मसिद्धकार का कथन है कि लोकप्रिय पदार्थ के अन्वय से अपूर्वार्थ की प्रतिपत्ति होने के कारण औपनिषद् वाक्यों के द्वारा ब्रह्म का बोधकत्व अनुचित नहीं है। अवएव ब्रह्मसिद्धकार ने निम्नलिखित कारिका के अन्तर्गत उपर्युक्त अभिप्राय को स्पष्ट किया है।

सामान्येन पदार्थत्वे सिद्धे साधारणैर्गुणैः।
शक्यापूर्वविशेषस्य लोकवत् प्रतिपादना ॥[3]

इस विषय में यह कहा जाएगा कि जिस प्रकार लोक में द्वीप विशेष में मरकतमय पैर वाले, पद्मारागमय चञ्चु वाले तथा सुवर्ण एवं रजतमय पंखों वाले पक्षी हैं, इस वाक्य में एक तो प्रमाणान्तरों से अधिगत पक्षी सामान्य का बोध होता है और दूसरे मरकत पद्मरागादि के विशिष्ट तथा प्रमाणान्तर से अनधिगत पक्षी विशेष का बोध होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वाक्य के द्वारा प्रमाणान्तर से अनधिगत विशेष ही प्रमेय होता है। इस विषय में दार्ष्टान्तिक के सम्बन्ध में यह कहा जाएगा कि "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"[4] के रूप में जगत् के कारण सामान्य अथवा सत् सामान्य का बोध होता है तथा इसके द्वारा "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" ब्रह्म अस्थूल अनणु एवं अह्रस्व

---

१. न हीक्षु-क्षीर-गुडादीनां रसः सरस्वत्याऽप्याख्यातुमलमिति। भामत्युपक्षेपेण।
—अनन्तकृष्णशास्त्री, ब्र० सि० भूमिका पृ० ८६.

२. तदेवं लोकसिद्धपदार्थान्वयेनैवापूर्वार्थप्रतिपत्तेर्नाविबोधकत्वमनुवादकत्वं वा।
—ब्र० सि० पृ० १५७

३. ब्र० सि० ४-२

४. तैत्ति० उ० ३-१

है। इत्यादि पदार्थों के द्वारा संसर्ग से तथा भेद से प्रमाणान्तर से अनधिगत ब्रह्म के विशेष रूप का बोध होता है और यही ब्रह्म वाक्य का प्रमेय होता है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य और विचारणीय है कि लोक में भी श्री ब्रह्म अत्यन्त अप्रसिद्ध नहीं है, क्योंकि समस्त लोकप्रत्यक्षों के द्वारा ब्रह्म का ज्ञेयत्व स्पष्ट है, अथवा ब्रह्म से व्यतिरिक्त ज्ञेय का अभाव है। जहाँ तक घटपटादि विशेष प्रत्ययों के बोध का प्रश्न है, ये सामान्य है। तथा समस्त भेदों के उपसंहार का फल ही सत्य स्वरूप ब्रह्म है।[1] इस प्रकार सामान्य के द्वारा विशेष का बोध संभव है।

अभिप्रायप्रकाशिकाकार का मत—

जहाँ तक, जैसा कि ऊपर कहा गया है, सर्व प्रत्यय वेद्यत्व के आधार पर लोक में ब्रह्म की प्रसिद्धता का प्रश्न है इस सम्बन्ध में अभिप्रायप्रकाशिकाकार का मत है कि समस्त जागतिक प्रत्ययों के द्वारा श्रेय ब्रह्म अविद्या से उपहित है, न कि शुद्ध ब्रह्म है।[2]

यदि औपनिषदवाक्यों का ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रामाण्य स्वीकार करें तो यह प्रश्न उठता है कि जब ब्रह्म सर्वप्रत्यय सिद्ध है तो शब्द के द्वारा क्या प्रतिपादित होता है।[3] क्या शब्द के द्वारा प्रपञ्चाभाव सिद्ध होता है। यहाँ यह कहा जाएगा कि प्रपञ्च पदार्थ भी सिद्ध हैं एवं उसका निषेध भी सिद्ध है। इस प्रकार इन दोनों के संसर्ग से प्रपञ्च के अभाव की प्रतिपत्ति सम्भव है। आम्नाय के द्वारा प्रपञ्च का अभाव ही सिद्ध होता है।[4] क्योंकि प्रत्यक्ष आदि के द्वारा ज्ञेय विषय अविद्योत्पन हैं तथा जब अविद्या से उत्पन्न समस्त प्रपञ्च विलय हो जाता है तो आम्नाय के द्वारा परब्रह्म मात्र का ही बोध होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विविक्ति से यह स्पष्ट होता है कि "सदेव सौम्येदं अग्र आसीत्" इत्यादि वाक्यों से सदात्म स्वरूप ब्रह्म का बोध होता है। इस सम्बन्ध में भाष्यकार आचार्य शंकर का निम्नलिखित कथन महत्वपूर्ण है, जिसके अन्तर्गत यह कहा गया है कि शास्त्र इदन्ता के द्वारा विषयभूत ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं करता।

---

१. यत्प्रत्यन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।—तैति० उ० ३-१

२. सर्वप्रत्ययवेद्यमपि तदविद्यानुबद्धमेव न तु शुद्धरूपम् इत्यर्थः।
अभिप्रायप्रकाशका, पृ० ५३२

३. ननु सर्वप्रत्यय सिद्ध चेत् ब्रह्म, किं तर्हि शब्दैप्रतिपाद्यते।
शंखपाणि व्याख्या, पृ० २९८

४. प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते। —ब्र० सि० ४-३

न हि शास्त्रमिदंतया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति ।[1]

शास्त्र तो अविद्यानिवृत्ति परक है। वस्तुतः यदि देखा जाये तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से वेद्य समस्त जगत् का अधिष्ठान ब्रह्म ही सद् रूप से प्रमेय है तथा समस्त विकल्प अप्रमेय है इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अखंड ब्रह्म प्रमेय तथा ज्ञेय है।[2] ब्रह्म की प्रमेयता के पक्ष में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि ब्रह्म विषयक अज्ञान की निवृत्ति होने पर तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से उत्पन्न ब्रह्मवृत्ति से भी ब्रह्म की प्रमेयता सिद्ध होती है। उपनिषद वाक्यों के द्वारा ब्रह्म निरूपण का वैय्यर्थय सिद्ध करते हुए पूर्वपक्ष के रूप में यह शंका भी प्रस्तुत की जाती है कि जो वाक्य पुरुष को न किसी हित साधन में प्रवृत्त करता है और न अहित साधन से निवृत्त करता है, किन्तु केवल सिद्ध बिषय में प्रवृत्त करता है, वह वस्तुतः अपुरुषार्थ है तथा अपुरुषार्थ होने के कारण उन्मत प्रलाप के समान अप्रमाणिक है। इस प्रकार समस्त वेदान्त वाक्य सिद्ध वस्तु अर्थात् ब्रह्म के निरूपक होने के कारण अप्रामाणिक हैं—

ननु चापुरूषार्थत्वं भूतनिष्ठे प्रसज्यते ।[3]

सिद्धान्त पक्ष का प्रस्थापन—

सिद्धान्त मत है कि नियोग से ही प्रमाण की पुरुषार्थ-फलता सिद्ध नहीं होती तथा जैसा कि अभी पूर्वपक्ष की शंका में कहा गया है हित का उपादान एवं अहित का त्याग ही प्रमाण के फल नहीं है। प्रमाणवेत्ता उपेक्षा को भी प्रमाण का फल मानते है। इसके अतिरिक्त पुरुषार्थता न प्रमाण का लक्षण है और न प्रमा का हेतु। अतः यह कथन सर्वथा अनुचित है कि पुरुषार्थ का अभाव अप्रमाण्य का हेतु है।[4] सिद्धान्ती का कथन है कि "मैं शोकी हूँ, "दुःखी हूँ" तथा "मेरे धनादि नष्ट हो गए है," यह जीव का मिथ्या ज्ञान है तथा इस मिथ्या ज्ञान की निवृति स्वरूप भी आनन्दप्रकाश ब्रह्मतत्व का ज्ञान है। यह तत्वज्ञान अपने स्वरूप से ही पुरुषार्थ है क्योंकि तत्व ज्ञान से मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति तथा इष्ट रूप तत्वज्ञान का आविर्भाव होता है। यद्यपि संस्कार-

---

१. ब्र० सू० शा० भा० १-१-४

२. सदेव ब्रह्म प्रमेयम्, तच्चाखण्डमपि ब्रह्म संवेद्यम्।
अनन्तकृष्ण शास्त्री, ब्र० सि० भूमिका, पृ० ६०.

३. ब्र० सि० पृ० ४-५

४. तस्मान्न पुरुषार्थाभावेनाप्रामाण्यम्। ब्र० सि० पृ० १५८

वशात् मिथ्याज्ञान की अनुवृत्ति शब्द ज्ञान होने के पश्चात् भी होती है, तथापि शब्द ज्ञान का निरन्तर अभ्यास करने वाले विद्वान् को पूर्ववत् मिथ्या ज्ञान की अनुवृति नहीं होती तथा क्रम से उस मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति आत्यन्तिक रूप से हो जाती है।[1] इस प्रकार ब्रह्म ज्ञान की उत्पत्ति ही एक मात्र पुरुषार्थ है। जिसके पश्चात् और कुछ कामना शेष नहीं रह जाती।

जैसा कि कहा गया है, प्रवृत्ति एवं निवृत्तिमूलक विषय की ही पुरुषार्थता हो, यह नियम नहीं है, क्योंकि समस्त प्रत्यक्ष आदि प्रभाव सिद्ध वस्तु विषय प्रवृत्ति-निवृत्ति परक नहीं है, किन्तु फिर भी उनकी पुरुषार्थता सिद्ध है।[2] यदि कहा जाए कि प्रत्यक्ष आदि के द्वारा ज्ञेय सिद्ध सलिल आदि स्नान पानादि उपकार के कारण पुरुषार्थ है, तो सिद्धान्ती के अनुसार यह कहा जाएगा कि शब्द प्रमेय ब्रह्म तो स्वयं ही पुरुषार्थ है, क्योंकि ब्रह्म ज्ञान होने पर जरा आदि विविध प्रकार के अकल्याणकर उपशमित हो जाते हैं तथा परमानन्द प्रकाश होता है। अतएव श्वेतकेतु तत्त्वमसि (छा ६-८-७) के द्वारा अनुशासनीय पुरुष के लिए अभिन्न ब्रह्म तत्व का उपदेश देता है। इस उदाहरण में भेदरूप से प्रतीयमान पुरुषार्थ नहीं है, अपितु जीव एवं ब्रह्म का तादात्म्य ज्ञान होने पर समस्त अशिवों का क्षय होने तथा परम् शिवभाव की सिद्धि होने पर परम पुरुषार्थ की सिद्धी होती है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण भी प्रवृत्ति के अंग ही हैं तथा प्रत्यक्षादि से सिद्ध विषय में हानोपादानादि दृष्टि से प्रवृत्ति देखी जाती है। इस सम्बन्ध में सिद्धान्ती का कथन है कि इस प्रकार की प्रवृत्यङ्गता ब्रह्म के सम्बन्ध में अंङ्गीकार्य है। अतएव अभिप्रायप्रकाशिकाकार इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहते है कि शब्द के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए 'मन्तव्य' आदि रूप से मननादि का प्रवृत्यङ्गता समान रूप से स्वीकार योग्य है।[4]

---

१. यद्यपि च संस्कारात्तस्यानुवृत्तिस्तथापि शाब्दज्ञानमनुसन्तवतो विदुषो न पूर्ववद्भवति निवर्तते चात्यन्ताय। — ब्र०सि०पृ० १५८

२. न च शोकत्वादिमिथ्याज्ञानं संस्कारादनुवर्तमानं सन्न निवर्तत एव, अपितु क्रमेण निवर्तते।—शंखपाणि व्याख्या, पृ० २९९

३. प्रत्यक्षादीनि हि प्रमाणानि, न च तावत्प्रवृत्तिनिवृत्तिपराणि सिद्धवस्तु विषयाणि, न च पुरुषार्थतां जहाति। —ब्र०सि०पृ० १५९

४. तर्हि शब्देनापि प्रतिपादिते ब्रह्मणि साक्षात्करणाय मननादिप्रवृत्यङ्गता समानेति।—अभिप्राय प्रकाशिका पृ० ५३५

ब्रह्म का मायित्व

ऊपर यह स्पष्ट किया गया है कि वेदान्त में ब्रह्म तत्व उपनिषदों का प्रतिपाद्य है। यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अद्वैत वेदान्त में मायोपाधिक ब्रह्म को मायी कहा गया है।[1] ब्रह्म के मायित्व के सम्बन्ध में यह तथ्य उद्घाटनीय है कि यद्यपि अज्ञान की आवरण शक्ति को ब्रह्म की आच्छादिका कहा गया है, किन्तु ब्रह्म प्रत्येक अवस्था में प्रकाशमान है। इसका कारण यह है कि अज्ञान का आच्छादकत्व जीव के लिए है, न कि ब्रह्म के लिए। इसका आशय यह है कि अज्ञान से आच्छादित होकर जीव ब्रह्म के स्वरूप का बोध नहीं कर पाता, किन्तु मूढ़ता के कारण वह ब्रह्म को ही आच्छादित मानने लगता है।[2] वस्तुस्थिति तो यह है कि ब्रह्म में सोपाधिस्वरूपा अविद्या के प्रकाशत्व की भी सामर्थ्य है, किन्तु फिर भी वृत्ति की अपेक्षा से ब्रह्म विषयक आवरण की निवृत्ति अपेक्षित ही है। यदि ऐसा न होता तो सर्वथा अज्ञान से अनावृत्त ब्रह्म के संबंध में उसके मायित्व तथा अपादानत्व की सिद्धि सम्भव न होती क्योंकि माया के ही कारण ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। इस प्रकार ब्रह्म के मायित्व का आशय मायोपधान ही है।[3] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचार्य शंकर ने भी 'ईश्वरस्य माया शक्तिः प्रकृतिः'[4] कहकर ईश्वर का मायित्व सिद्ध किया है। मायोपधान के आधार पर ब्रह्म का मायित्व सिद्ध करते समय यह विचारणीय है कि आविधिक विक्षेप धर्म के आश्रय से जीवों का अविद्याश्रयत्व स्वीकार्य है। अग्रहण (परमतत्व का ग्रहण न करना) एवं मिथ्याज्ञानात्मक (अविद्या) कार्य के अविद्याश्रयत्व से ब्रह्म के आवरण युक्त होने के कारण ब्रह्म

---

१. मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं तु महेश्वरम्। —श्वे०उ० १-४-३

२. घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं
यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः।
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥— हस्तामलकम् १०

३. सत्यमावृत्तावस्थायामपि ब्रह्मणः प्रकाशरूपत्वम्, स्वोपाध्यविद्या प्रकाशकत्वं च वर्तते, तथाऽप्यानन्दात्मनाऽऽवरणनिवृत्तिर्वृत्यपेक्षयैव, अन्यथा सर्वात्मनाऽनावृतावस्थत्वे ब्रह्मणः 'मायिनं तु महेश्वरमि' ति मायित्वव्यपदेशः जगदुपादानत्वं च नोपपद्यते। मायित्वं तु ब्रह्मणो मायोपधानमेव।
—अनन्तकृष्णशास्त्री ब्र०सि०भू० पृ० ९६

४. शा०भा०श्वे०उ० १-४-३

का विक्षेप के कारण रूप अज्ञान का आश्रय होना, ब्रह्म का उपधान मात्र है तथा इसी दृष्टि से ब्रह्म का मायित्व है।[1]

माया की आवरण एवं विक्षेप इन दो शक्तियों के विषय में यह विचारणीय है कि माया दो प्रकार की है—प्रथम प्रकाश की आच्छादिका जिसके कारण ब्रह्म का मायित्व एवं मायोपधानत्व कहा गया है और दूसरी विक्षेप शक्ति। विक्षेप शक्ति स्वप्न एवं जाग्रत रूप विक्षेप की कर्त्री तथा आवरण अथवा आच्छादिका शक्ति लयलक्षणा एवं सुषुप्ति स्वरूपा है। जहाँ विक्षेप शक्ति अनेक विधि जगतिक दुःखों को देने वाली है, आवरण शक्ति सुषुप्ति रूप लयात्मक होने के कारण आनन्द प्रदायिनी है।[2] यहाँ यह स्पष्ट करना और उचित होगा अग्रहण एवं मिथ्याग्रहण के रूप में जिन दो अविद्याओं का निरूपण ब्रह्मसिद्धिकार ने किया है वह यदि देखा जाए तो शंकराचार्य प्रभृति आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित अविद्या एवं माया का ही विश्लेषण है, क्योंकि ब्रह्म तत्व का ग्रहण न करना (अग्रहण) तथा मिथ्याग्रहण (जगत् का सत्य रूप से ग्रहण) ये दोनों ही मूलतया प्रतिपादित अविद्या के क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाते हैं। यहाँ यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि अविद्या के दोनों ही स्वरूप जीवाश्रित हैं तथा दोनों से उपहित संवित् मात्र विवर्तरूप तथा अधिष्ठान रूप से उपादान कारण है। इस प्रकार अविद्योपहित तत्व एक संवित ही है। एवञ्च वह सोपाधिक स्वरूपा अविद्या से आवृत्त तथा विक्षिप्त है। इस प्रकार यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अनेक प्रकार के विषयों के आश्रय स्वरूप जीव अनेक विध आवरण एवं विक्षेपों के आश्रय होकर अविद्या विशिष्ट होते हैं। यदि हम यह कहें तो अनुचित न होगा कि यद्यपि ऊपर ब्रह्म का मायित्व सिद्ध करते हुए माया की आच्छादिका शक्ति के कारण ब्रह्म का मायोपधानत्व कहाँ है किन्तु यदि देखा जाए तो आवरण एवं विक्षेप शक्ति का प्रभाव जीव पर ही है, ब्रह्म पर नहीं। अतः ब्रह्म के अधिष्ठान होने के कारण ही उसका मायोपधानत्व कहा जाता है। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि जीव ब्रह्म का भेद भी कल्पना एवं

---

१. ब्रह्मसिद्धिकार एवं अभिप्रायप्रकाशिकाकार के अनुसार अविद्या के दो भेद हैं—(१) अग्रहण (२) मिथ्याज्ञान। अग्रहण का तात्पर्य ब्रह्म तत्त्व का ग्रहण न करना है तथा मिथ्या ज्ञान का अर्थ जगत् सम्बन्धी मिथ्या ज्ञान है।

२. लयस्तु विधिदुःख निवृत्तेरसकृदानन्दत्वेन श्रुतौ गीतः प्रत्युत्तार्थनीयः
—अनन्तकृष्ण शास्त्री ब्र०सि०भू० पृ० ८०

मायाकृत ही है, वास्तविक नहीं।[1] वस्तुतस्तु ब्रह्म ही समस्त विरोधों से रहित एवं शाश्वत सत्य है। अतः यदि देखा जाए तो उसका मायावित्व भी मिथ्या ही है। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वभाविक है कि जब ब्रह्म स्वभाव से शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वभाव वाला है तो उसमें माया का संयोग किस प्रकार हुआ तथा वह मायी किस प्रकार कहलाया। यहाँ यह जिज्ञासा भी संगत है कि सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप ब्रह्म से असत्, अचित् एवं मोहस्वरूपिणी माया का सम्बन्ध किस प्रकार संभव है। इस विषय में यह कहना समुचित होगा कि वस्तुस्थिति के अनुसार सत् स्वरूप ब्रह्म एवं असत् स्वरूप माया का सम्बन्ध संभव ही नहीं, क्योंकि वेदान्त में से सत् पदार्थों का सम्बन्ध तो सम्भव है किन्तु सत् एवं असत् के सम्बन्ध का कदापि अवसर ही नहीं है।[2] अतः यहाँ यह कहा जाए कि जीव ही अध्यास के कारण ब्रह्म में अनात्म स्वरूप अविद्या एवं जगत् का आरोप करता है। वह आरोप ही अध्यास है। अविद्या के द्वारा ब्रह्म में जगत् का आरोप उसी प्रकार मिथ्या है, जिस प्रकार शुक्ति में रजत एवं रज्जु में सर्प का आरोप मिथ्या है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जिस प्रकार शुक्ति का रजत तथा रज्जु का सर्प से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसी प्रकार ब्रह्म का भी जगतादि किसी असद् वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः ब्रह्म का मायित्व अविद्योपाधिकृत ही समझना चाहिए, वास्तविक नहीं। जिस माया के कारण ब्रह्म का मायित्व ऊपर सिद्ध किया गया है, उसका यत्किन्चिद् रूप भी यहाँ निरूपणीय है अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत माया का अत्यन्त महत्व है। माया के ही द्वारा ब्रह्म का स्रष्टृत्व, कर्तृत्व एवं लोकनियामाकत्व आदि सिद्ध होता है। मायोपाधिक ब्रह्म की ही ईश्वर संज्ञा है। जहाँ तक माया के स्वरूप का प्रश्न है, ब्रह्मसिद्धिकार ने अविद्या एवं माया को भिन्न न मानकर एक ही माना है तथा इसे मिथ्यावभास कहा है।[3] आचार्य शंकर ने भी माया एवं अविद्या का प्रयोग समानार्थ में किया है।[4] माया जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है। यहाँ यह

---

१. सत्यं परमार्थतः, कल्पनया तु भिद्यन्ते।—ब्र०सि० पृ० १०

२. एवमेवेयमविद्या माया मिथ्यावभास इत्युच्यते।—ब्र०सि० पृ० ६

३. सतोहि द्वयोः संबन्धः संभवति न हि सदसतो सम्बन्धः।
—ब्र०सू०शा०भा० २-१-१८

४. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देशया परमेश्वराश्रया माया-मयी महासुषुप्तिः।—ब्र०सू०शा०भा० १-४-३

तथ्य स्पष्टीकरणीय है कि यद्यपि माया का व्यावहारिकत्व वेदान्त में स्वीकार्य है, किन्तु फिर भी उसका मिथ्यात्व सदा ध्यातव्य है। अतएव ब्रह्मसिद्धिकार ने माया की अदृढ़स्वभावता के कारण उसकी निवृत्ति की बात कही है।[1] इससे यह सिद्ध होता है कि व्यावहारिक रूप से माया की सत्यता सिद्ध होने पर भी उसके मिथ्यात्व में कोई बाधा नहीं पड़ती। इस विषय में अभिप्रायप्रकाशिकाकार चित्सुखाचार्य का कथन है कि माया को यदि सर्वथा सत्य माना जाएगा तब तो मुक्त पुरुषों के लिए भी बन्धन बना रहेगा अर्थात् उनकी मुक्ति का अवसर ही नहीं उपस्थित होगा।[2] इस प्रकार परमार्थ दृष्टि से माया का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। अतः यहाँ यह भी पुनः प्रतिपादित हो जाता है कि जब माया ही मिथ्या है तो ब्रह्म का मायित्व कैसा। इस प्रकार यह स्थिति तो बांस के बिना बाँसुरी जैसी है। किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि माया मिथ्या है किन्तु माया के द्वारा ही ब्रह्म की सिद्धिसम्भव है। इसका कारण यह है कि जब तक जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, अद्वैत ब्रह्म तत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त का साथ तो ब्रह्मसिद्धि है किन्तु मायावाद का सिद्धान्त अद्वैत सिद्धि का सहायक है। परन्तु अद्वैत वेदान्त के समालोचक डॉ० रामप्रताप सिंह का कहना है कि सभी विद्वानों के अनुसार शंकराचार्य का प्रमुख उद्देश्य विवर्तवाद अथवा मायावाद की स्थापना करना है।[3] मेरे विनम्र विचार से यह तथ्य बहुत संगत नहीं लगता। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर ने माया की स्थापना के लिए प्रस्थानत्रयी की रचना नहीं की थी अपितु ब्रह्मतत्व की स्थापना के लिए ही उनका समस्त भाष्य प्रणयन है अतएव उन्होंने ब्रह्म को जिज्ञास्य कहा है, माया को नहीं।[4]

साधक एवं सिद्धि का स्वरूप विवेचन

सामान्य रूप से साधक श्रवणादि के द्वारा अविद्या निवृत्ति होने पर ब्रह्मा-

---

१. अत एव चास्या निवृत्तिरदृढ़स्वभावायाः मायामात्रत्वात्।
—ब्र०सि०, पृ० ६

२. मायायामनुपपत्यभावेमुक्तानामपि बन्धः।—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ५६

3. All the writers on Sankara hold that real objective was to establish Vivartavada or Maya vada as against Parinamavada,—R.P. Sinha, The Vedanta of Sankara p. 316

४. अथातोब्रह्मजिज्ञासा।—ब्र०सू०शा०भा० १-१-१

नुभव स्वरूप ब्रह्मसिद्धि को प्राप्त करता है। यहाँ यह विशेष रूप से विचारणीय है कि मण्डनमिश्र के मतानुसार साधक स्थित-प्रज्ञ ही है।[1] तथा स्थितप्रज्ञ के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह बीत-काम, आत्मस्वरूप सन्तुष्ट, तत्वदर्शन के कारण छाया स्वरूप दुःखों में अभिनिवेश न होने के कारण कृत्रिम व्याघ्रादि से अनुद्विग्न मन वाला तथा सुखों को कृत्रिम रमणीय समझने वाला एवं विगतस्पृह होता है।[2] अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने भी कहा है कि तत्वदर्शन संस्कार जब वृद्धि को प्राप्त होता है तो विपर्यय संस्कार अर्थात् मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होती है। स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध में गीता का अनुसरण करते हुए चित्सुखाचार्य का कथन है कि स्थितप्रज्ञ पुरुष में "जब पुरुष कामनाओं का त्याग कर देता है" इत्यादि भगवद्गीतोक्त लक्षण उत्पन्न होते हैं।[3] श्रीमद्भगवतगीता के अन्तर्गत द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया गया है।[4] तथा कहा गया है कि ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त होकर व्यक्ति फिर विमोहित नहीं होता तथा अन्त में ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करता है।[5] यहाँ आचार्य शंकर ने भाष्य करते हुए कहा है कि इस ब्राह्मी स्थिति में रहता हुआ मनुष्य अन्तकाल में ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता है—

---

१. स्थितप्रज्ञस्तावन्न विगलितनिखिलाविद्यः सिद्धः किं तु साधक एवावस्थाविशेषं प्राप्तः स्यात्। ब्र०सि० पृ० १३०
तथा देखिए,
स्थितप्रज्ञः साधकावस्था इति मण्डनमतम् न भाष्यबाह्यम्।
—अनन्तकृष्ण शास्त्री, ब्र०सि०भू०पृ० ७१

२. ब्र०सि०पृ० १३१

३. तत्वदर्शनसंस्कार उपचीयमानो विपर्ययसंस्कारं निवर्तति तथा द्रष्टव्यः प्रजहाति यदा कामानित्यादीनि भगवद्गीतोक्तलक्षणान्युपपादयति।
—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० ४५५

४. प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ गीता २-५५
दुखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरूच्यते॥
—गीता २-५६ एवं २-५७-५१

५. एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ —गीता २-७२

स्थित्वा अस्यां ब्राह्मणां यथोक्तायाम् अन्तकाले अपि अन्ते वयसि अपि ब्रह्म-निर्वाणंब्रह्मनिवृत्तिं मोक्षं ऋच्छति गच्छति । (शा०भा० गीता २-७२)

भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने स्थितप्रज्ञ तथा साधक के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है कि स्थितप्रज्ञ ऐसा सिद्ध नहीं होता जिसकी समस्त अविद्या का उच्छेद हो गया हो, किन्तु साधक ही अवस्था विशेष को प्राप्त होकर स्थितप्रज्ञ कहलाता है ।[1]

सिद्ध एवं साधकावस्था में वर्तमान जीवन्मुक्त—

अनाश्रमी, उर्ध्वरेतस् एवं आधिकारिक सिद्ध जीवन्मुक्त होने के योग्य हैं । जहाँ तक गृहस्थों का प्रश्न है, वे साधकावस्था में विदेह जनक की तरह रहते हुए ही अन्त में शरीरपात होने के पश्चात् विदेह कैवल्य को प्राप्त करते हैं । जहाँ तक अपान्तरतमःप्रभृति आधिकारिकों का प्रश्न है, वे परमेश्वर के द्वारा अपने अपने अधिकारों में नियुक्त होते हुए तथा सम्यक् तत्वदर्शी होते हुए भी अपने-अपने अधिकारों का निर्वाह करने के लिए अपने-अपने आश्रम के अनुकूल कर्मका सम्पादन लोक संग्रह के लिए करते हैं ।[2]

आधिकारिक जीवनमुक्त एवं सिद्ध जीवनमुक्त—

जैसा कि ऊपर कहा गया है "अपान्तरतमादि आधिकारिक जीवन्मुक्त अपने अधिकार के निर्वाह के लिए जन्म जन्मान्तर का ग्रहण करते हैं । उदाहरणार्थ वेदव्यास ने कलियुग एवं द्वापर की सन्धि में कृष्ण द्वैपायन रूप का ग्रहण किया तथा ब्रह्म के मानस पुत्र वसिष्ठ ने ब्रह्मा के उपदेश से मित्रावरुण का स्वरूप ग्रहण किया । इस प्रकार इनकी मुक्ति तब तक नहीं हुई जब तक कि इनके अधिकार की समाप्ति नहीं हो गई । इस प्रकार आधिकारिक जीवन्मुक्ति के पश्चात् ही ये सिद्ध जीवन्मुक्ति होने के योग्य हैं । इस प्रकार आधिकारिक जीवन्मुक्त एवं सिद्ध जीवन्मुक्त का उक्त अन्तर द्रष्टव्य है ।

स्थितप्रज्ञ साधक एवं गुणातीत—

शङ्कराचार्य की विवेकचूड़ामणि के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय

---

१. स्थितप्रज्ञस्तावन्न विगलितानिखिलाविद्यः सिद्धः, किन्तु साधक एवास्थाविशेषं प्राप्तः स्यादिति भामती ।

—अनन्तकृष्णशास्त्री ब्र० सि० भू० पृ० ७२

२. एवमपान्तरतमः प्रभृतयोऽपीश्वराः परमेश्वरेण तेषु तेष्वधिकारेषु नियुक्ताः सन्तः सत्यपि सम्यग्दर्शने कैवल्यहेतौ अक्षीणकर्माणः यावदधिकामवतिष्ठन्ते, तदवसाने च अपवृज्यन्ते । ब्र०सू०शा०भा० ३-३-३२

अध्याय पर आधारित स्थित प्रज्ञ एवं चतुर्दश अध्याय पर में वर्णित गुणातीत[1] से जीवन्मुक्त का ही अभिप्राय है[2] न केवल विकर्मयोगी का। इससे सिद्ध होता है कि शङ्कराचार्य का अभिमत जीवन्मुक्त, कर्मयोगी तथा स्थितप्रज्ञ एक नहीं है।[3]

स्थित प्रज्ञ एवं गुणातीत के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करते समय यह उल्लेखनीय है कि गुणातीतावस्था में वर्तमान ज्ञान की सप्तम-भूमिका में स्थितप्रज्ञ सिद्ध कहलाता है तथा इससे अतिरिक्त स्थितवर्ती पुरुष साधक कहलाता है।[4]

साधक एवं जीवनमुक्ति—

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, ब्रह्मसिद्धकार मण्डनमिश्र के अनुसार साधक एवं जीवन्मुक्ति में अन्तर है। स्थितप्रज्ञ की समस्त अविद्या का विनाश नहीं होता। इस प्रकार स्थितप्रज्ञ साधक विशेष ही है। जीवन्मुक्ति नहीं।[5]

सर्वज्ञात्ममुनि का मत—

ब्रह्मसिद्धिकार मण्डनमिश्र के स्थितप्रज्ञ एवं जीवन्मुक्ति सम्बन्धी मत के सम्बन्ध में सर्वज्ञात मुनि का विचार है कि मण्डनमिश्र का उपर्युक्त विचार प्रस्थानान्तर है। इसीलिए सर्वज्ञातमुनि ने मण्डनमिश्र के मत के सम्बन्ध में "तद्धचन्यथा प्रस्थितम"[6] ऐसा कहा है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मण्डनमिश्र का मत सर्वज्ञात मुनि का अभिप्रेत नहीं है। अभिप्राय प्रकाशिका

---

१. मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः सः उच्यते॥ —गीता १४-२५

२. यस्य स्थिता भवेत्प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः।
प्रपञ्चो विस्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त उच्यते॥ —विवेकचूड़ामणि ४२९
तथा
गुणदोषविशिष्टेऽस्मिन्स्वभावेन विलक्षणे।
सर्वत्र समदर्शित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्॥ —४३४ विवेकचूड़ामणि

३. देखिए ब्र०सू०शा०भा० ४-१-१५

४. तत्र गुणातीत-स्थितप्रज्ञयोरैक्यमेव। गुणातीतावस्थाख्यसप्तम भूमिकास्थः स्थितप्रज्ञः सिद्ध अपरस्तु साधक एव।
—आनन्तकृष्ण शास्त्री, ब्र०सि०भू० प्र० ७३

५. द्रष्टव्यः।—ब्र०सि० पृ० १३०

६. अनन्तकृष्णशास्त्री।—ब्र०सि०भू० पृ० १०५ से उद्धृत

के अनुसार जीवन्मुक्ति भोगाभास की अनुवृत्ति मात्र है।[1] स्थितप्रज्ञ की साक्षात्कृत ब्रह्मता का निराकरण करते हुए भावशुद्धिकार आनन्दपूर्ण मुनि का कथन है कि स्थितप्रज्ञ साक्षात्कृत ब्रह्मा नहीं होता अपितु शमदमादि से युक्त होता हुआ श्रवणादि निष्ठावान् होकर निरन्तर रूप से श्रवणादि का अनुष्ठान करता है। एवञ्च स्थितप्रज्ञ का देह धारण करना युक्त ही है।[2] इस प्रकार ब्रह्मसिद्धिकार एवं आनन्दपूर्ण मुनि के अनुसार स्थितप्रज्ञ एवं ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त में भेद है, किन्तु जैसा कि पहले भी कहा गया है, शंकराचार्य के अनुसार स्थितप्रज्ञ एवं जीवन्मुक्त दोनों एक ही है।[3]

उपर्युक्त दृष्टिकोण के सम्बन्ध में यहां यह उल्लेखनीय है कि स्थितप्रज्ञ एवं तत्वज्ञानी जीवन्मुक्त में भेद देखना उपयुक्त नहीं है। इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि ब्रह्मसिद्धिकार का "न-विगलित-निखिलाविद्यः सिद्धः" कहना संगत नहीं है इसका कारण यह है कि स्थितप्रज्ञ की समस्त अविद्या का नाश नहीं होता, यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि अविद्या की निवृत्ति अंशतः शेष रहती है, यह अनुचित है। यह उल्लेखनीय है कि अविद्या की निवृत्ति होने पर जो ज्ञात होता है वह अंशतः न होकर पूर्ण ही होता है। अतः पूर्ण ज्ञान की स्थिति ही जीवन्मुक्त की स्थिति है। यहाँ यह भी निर्देश योग्य है कि जीवन-मुक्त एवं विदेहमुक्त की स्थिति में भी ज्ञान के स्तर पर कोई भेद नहीं है। अन्तर केवल यही है कि जब तक तत्वज्ञानी के प्रारब्ध कर्म का भोग समाप्त ही नहीं हो जाता तभी तक वह शरीर ग्रहण करता है, किन्तु जब प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है तब जीवन्मुक्त का शरीर पात हो जाता है। यही स्थिति विदेह मुक्ति की स्थिति कहलाती है।

सिद्धि का स्वरूप—

ब्रह्मसिद्धि के अनुसार सिद्धि से ब्रह्मसिद्धि का तात्पर्य है। अतएव सिद्धि-काण्ड के अन्तर्गत मण्डनमिश्र ने ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति की ही पुरुषार्थता स्वीकार की

---

१. भोगाभासानुवृत्तिरेव विदुषो जीवन्मुक्तिः।
—अभिप्राय प्रकाशिका, पृ० ४५५

२. स्थितिप्रज्ञस्तावन्न साक्षात्कृतब्रह्मा, किन्तु शमादियुक्तश्रवणादि निष्ठो नैरन्तर्येण श्रवणाद्यनुतिष्ठन्, अतस्तस्य देहधारणं युक्तम्।
—भावशुद्धि, पृ० ४५४

३. यस्य स्थिता भवेत्प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः।
प्रपञ्चो विस्मृप्रायः स जीवन्मुक्त इष्यते ॥—विवेकचूडामणि, ४२९

है।[1] यह पुरुषार्थ स्वरूप मोक्ष अज्ञान की निवृत्ति एवं विज्ञान-स्वरूप है।[2] शंकराचार्य ने भी सिद्धि से मोक्ष का आशय ग्रहण किया है[3] तथा इसे पुरुषार्थ योग्यता स्वरूप माना है।[4] इस प्रकार परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष ही साधक की सिद्धि है। अतः यह स्पष्ट है कि ब्रह्मज्ञान रूप परम पुरुषार्थ की सिद्धि के अनन्तर किसी अन्य वस्तु की अभिलाषा नहीं होती।[5] यहाँ यह और उल्लेखनीय है कि जब तक जीवन एवं ब्रह्म का भेद बना रहता है, तब तक पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती।[6] परम पुरुषार्थ स्वरूप ब्रह्म ब्रह्मसिद्धि की स्थिति में तो जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य सिद्ध होने पर समस्त अशिव का उपशमन हो जाता है तथा परम शिव भाव की प्राप्ति होने पर परिपूर्ण पुरुषार्थ प्राप्त हो जाते है। यही सिद्धि की पराकाष्ठा है।[7] यहाँ अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यदि ब्रह्म स्वयं प्रकाश एवं समग्र अशिव को शान्त करने वाला एवं परमानन्द स्वरूप परम पुरुषार्थ है तो इससे श्रुति प्रतिपादित तत्व के श्रोता को क्या लाभ।[8]

इस सम्बन्ध में यह वक्तव्य है कि उक्त दृष्टि में परम पुरुषार्थ स्वरूप ब्रह्म तत्व का प्रतिपादन निरर्थक नहीं है, क्योंकि इसी तत्व का उपदेश श्वेतकेतु के प्रति तत्वमसि के रूप में दिया गया है—

अतस्तत्वमसीत्येवमनुशिष्याय शिष्यते।[9]

---

१. द्रष्टा च ज्ञानोत्पत्तिरेव पुरुषार्थता।—ब्र०सि० पृ० १५८
पुरुषार्थः स्वयं ब्रह्म प्रशान्तं विजरादिकम्।—ब्र०सि० ४-१०

२. तन्निवृत्तिश्च विज्ञानं पुरुषार्थः स्वयं मतम्।—ब्र०सि० ४-७

३. परां सिद्धिम् मोक्षाख्याम्।—शा०भा० गीता १४-१

४. कार्यप्रयुक्तः सन् न स सिद्धिं पुरुषार्थयोग्यताम्।
अवाप्नोति—शा०भा० गीता १६-२३

५. न हि तज्ज्ञानात् परमन्यदर्थ्यते।—ब्र०सि० पृ० १५९

६. तत्वे तादात्मयज्ञाने च तथा भावात् विश्वबाधिवोपशमात्
परमशिवभावाच्च परिपूर्णः पुरुषार्थ आप्तो भवति॥
—ब्र०सि०, पृ० १५९

७. भवतु ब्रह्म स्वयं प्रकाशशान्ताशेषाशिवत्वेन परमानन्दरूपतया। पुरुषार्थः, तथापि श्रोतुः किमायातम्।—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ५३४

८. ब्र०सि० ४-१०

असत्कार्यवाद, सत्कार्यवाद एवं विवर्तवाद

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत कार्यकारणवाद समस्या का विचार विभिन्न रूपों में किया गया है। इन सिद्धान्तों के अन्तर्गत न्याय वैशेषिक का असत् कार्यवाद सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद एवं वेदान्तदर्शन का विवर्तवाद विशेष-रूपेण विचारणीय है। यदि विचार कर देखा जाए तो इन सिद्धान्तो के मूल वाङ्मय में भी उपलब्ध हो जाते हैं। उदाहरणार्थ "एकं सद विप्रा बहुधा वदन्ति' के अन्तर्गत सत्तत्व का निर्देश मूल कारण के रूप में ही किया गया है। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् के अन्तर्गत भी सत् तत्व का निरूपण मूल कारण के रूप में वर्तमान है।[1] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'छान्दोग्योपनिषद्' में ही असत् का मूल कारण के रूप में निर्देश किया गया है।[2] यहाँ यह भी निर्देश योग्य है कि नासदीय सूक्त के अन्तर्गत मूल कारण को सत् एवं असत् से भिन्न कहा गया है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक साहित्य में मूल तत्व को कहीं सत् कहीं असत् और कहीं सतसत् कहा गया है। यहाँ यह कहना अपेक्षित है कि उपर्युक्त विचार दृष्टियों में किसी प्रकार का विरोध मानना असमीचीन होगा, क्योंकि वैदिक विचारधारा में विरोध न होकर समन्वय ही है। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि जहाँ मूल कारण को असत् कहा गया है वहाँ उसका तात्पर्य अदृश्य से है। इसमे यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि का मूल कारण सूक्ष्माति-सूक्ष्म होने के कारण अदृश्य अवश्य था, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह सर्वथा असत् एवं अभावात्मक था। इस प्रकार मूल कारण को सत् कहने का तात्पर्य यही है कि मूल कारण की सूक्ष्म सत्ता वर्तमान थी। अतः यहाँ सत् का अर्थ दृश्य सत् स्वीकार्य नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि का मूल कारण दृश्यात्मक सत् एवं अभावात्मक असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय था। मेरा विचार है कि न्याय-वैशेषिक के असत्कार्यवाद एवं सांख्यदर्शन के सत्कार्यवाद के मूल में वैदिक दर्शन की उपर्युक्त सदसद् सम्बन्धिनी विचारधाराएँ ही वर्तमान रही होंगी। इसी प्रकार वेदान्त दर्शन सम्मत विवर्तवाद सिद्धान्त का मूल भी छान्दोग्योप-निषद् की निम्नलिखित श्रुति ही हैं—

---

१. सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् —छा०उ० ६-२-१

२. तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत।
—छा०उ० ६-२-१

३. नोऽसदासीत् तदानीम्।—ऋग्वेदसंहिता १०-१२९-१

"वाचा रम्भणं विकारो नामधेय मृतिकेत्येव सत्यम् ।"[1]

असत्कार्यवाद का सिद्धान्त—

असत्कार्यवाद सिद्धान्त के समर्थक न्याय-वैशेषिक दार्शनिक है । असत्कार्यवादी घट रूप कार्य की सत्ता मृत्ति रूप कारण में नहीं स्वीकार करता इसीलिए इस सिद्धान्त की संज्ञा असत्कार्यवाद की गई है । असत्कार्यवाद सिद्धान्त के अनुसार परमाणुओं के द्वारा जगत् की सृष्टि होती है । दो परमाणुओं से एक द्वयणुक और तीन द्वयणुको से मिलकर एक त्रयणुक उत्पन्न होता है । इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में समवाय सम्बन्ध को स्वीकार किया है । यदि विचार कर देखा जाए तो असत्कार्यवाद का सिद्धान्त समुचित प्रतीत नहीं होता । इसका कारण यह है कि यदि कार्य की सत्ता कारण में असत् मानी जाएगी तब तक तो किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति का अवसर उपस्थित होगा जो सर्वथा असंगत है । इसके अतिरिक्त असत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त भी अनुचित है । असत्कार्यवाद का यह दोष भी उल्लेखनीय है कि कार्य की सत्ता कारण में वर्तमान न होने के कारण कार्य एवं कारण का सम्बन्ध भी स्थापित नहीं किया जा सकता । अतः सत्कार्यवाद का सिद्धान्त समुचित नहीं है ।[2]

असत्कार्यवाद के पक्ष में मण्डनमिश्र द्वारा प्रस्तुत यह तर्क विचारणीय है कि यह कोई नियम नहीं है—कि असत् से कोई कार्य की उत्पत्ति नहीं होती । उदाहरणार्थ मिथ्या माया वास्तविक भय का कारण बनती है। इसी प्रकार मिथ्या लिपि के अक्षरों एवं रेखा गवय से शब्दों एवं वास्तविक गवय का बोध होता है ।[3] इस सम्बन्ध में अभिप्रायप्रकाशिकाकार का कथन है कि यद्यपि गवय रूप से तथा वर्णाकार रूप से रेखा वाक्य में गवय के स्वरूप की असतता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि तद्वर्ती रेखा असत्य है । इसके साथ ही साथ यह भी विचारणीय है कि रेखा मात्र गवयादि की प्रतिपत्ति का हेतु नहीं है अपितु

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ६-१-४

२. नासतो विद्यते भावः ।—गीता २-१६

३. उच्यते नायं नियमः—असत्यं न कस्मैचित् कार्याय भवतीति, भवति हि माया प्रीतिर्भयस्य च निमित्तम्, असत्यं च सत्यप्रतिपत्तेः यथा रेखागवयो लिप्यक्षराणि ।—ब्र०सि० पृ० १३-१४

विशिष्ट गवयाद्यत्मक हैं।[1] कार्य-कारण के सम्बन्ध में सत्कार्यवाद का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सत्कार्यवाद के अनुसार असत्कार्यवाद के विपरीत कार्य की सत्ता कारण में वर्तमान रही है। सत्कार्यवाद का सिद्धान्त ही विकारवाद के नाम से प्रसिद्ध है। परिणामवाद के अनुसार दधि दूध का विकार है।

ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत वाक्तत्व का परब्रह्म के रूप में प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि वाक्तत्व ही अनेकानेक रूपों में विवर्त रूप से दृष्टिगोचर होता है।[2] अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने सिद्धान्ती के मत को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि परिणामवाद के अन्तर्गत स्वरूप की हानि होती है, किन्तु विवर्तवाद के अन्तर्गत ऐसा नहीं है। विवर्तवाद के अनुसार तो कल्पना दशा में भी स्वरूप में कोई व्याघात नहीं आता।[3] ब्रह्मसिद्धिकार ने वाक्तत्व की अधिष्ठान रूप से प्रतिष्ठा करते हुए कहा है कि समस्त ज्ञेय एवं विषय रूप जगत्विकार अथवा विवर्त है। इस प्रकार घटादि मृत्तिका के विकार रूप हैं तथा जलतरंगवर्ती अनेक चन्द्रमा के विवर्तरूप हैं—

सर्वथा वाग्रूपाधी नो ज्ञेयबोध इति सर्वं ज्ञेयं वाग्रूपान्वितं गम्यत इति तद्विकारस्तद्विवर्तो वा, मृद इव घटादयः चन्द्रमस इव जलतरंगचन्द्रमसः।[4]

यहाँ जैसा कि भावशुद्धिकार आनन्दपूर्ण मुनि ने भी माना है मृत्तिका एवं घट का दृष्टांत विकारवाद से सम्बन्धित है तथा चन्द्रमा का दृष्टान्त विवर्तवाद से।[5] यहाँ यह विचार करना अपेक्षित है कि जैसा कि ऊपर उद्धृत किया गया है ब्रह्मसिद्धिकार का 'तद् विकारस् तद् विवर्ततो वा' (वह विकार है अथवा विवर्त), यह कहकर विकार एवं विवर्त को समान श्रेणी में रखना विचारणीय है साथ ही विकार के सम्बन्ध में मृत्तिका एवं घट का उदाहरण भी न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। विकार के सम्बन्ध में तो दुग्ध एवं दधि का दृष्टान्त ही

---

१. गवयात्मना वर्णाकारेण च असत्वेऽपि स्वरूपेण तत्र रेखा नासत्येत्यर्थः। न रेखामात्रं गवयादिप्रतिपत्ति हेतुः किन्तु विशिष्टगवयाद्यत्मकम्।
—अभिप्राय प्रकाशिका पृ० ७१

२. वाक्तत्वमेव तथा तथा विवर्तत इति न्याय्यम।—ब्र०सि० पृ० १६

३. न परिणामवाद इव स्वरूपहानिशंकाऽस्मन्मते, कल्पनादशायामपि स्वरूपानपायाद्।—अभिप्राय प्रकाशिका पृ० ६१

४. ब्र०सि० पृ० १६

५. सतत्वतोऽन्यथा प्रथा विकारित्युदीरितः
अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्तित्युदीरितः।—वेदान्तसार पृ० ७६

ही संगत है क्योंकि दधि दुग्ध का विकार है न कि घट मृत्तिका का विकार है। विकार एवं विवर्त की परिभाषा के अनुसार भी उपर्युक्त तथ्य की ही पुष्टि होती है। जहाँ तक विकार की परिभाषा का प्रश्न है तात्विक परिवर्तन को विकार कहते हैं तथा अतात्विक रूपान्तर को विवर्त कहते हैं।[1] छान्दोग्योपनिषद् के अन्तर्गत भी मृत्तिका को ही सत्य कहा गया है तथा विकार की नाममात्रता प्रतिपादित की है। इस प्रकार शुक्ति के आधार पर भी सिद्धान्त विवर्तवाद की सिद्धि होती है। यह बात दूसरी है कि उक्त श्रुति में विवर्तशब्द का व्यवहार नहीं हुआ है जैसा कि ऊपर कहा गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ब्रह्मसिद्धिकार एवं अभिप्राय प्रकाशिकाकार दोनों ने ही परिणामवाद न स्वीकार करके विवर्तवाद सिद्धान्त स्वीकार किया है। शब्दबोध के सम्बन्ध में विचार करते हुए अभिप्रायप्रकाशिकाकार का कथन है कि बोध शब्दाधीन है तथा जगत् शब्द का विवर्त है। इस प्रकार शब्द की विवर्तता सर्वथा स्वीकार्य है।[2]

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जगत् के ब्रह्म का विवर्त होने के कारण ब्रह्म एवं जगत् में अनन्यत्व है। जिस प्रकार कि शुक्ति एवं रजत के उदाहरण में रजत की पृथक सत्ता न होने के कारण शुक्ति एवं तदध्यस्त रजत में अनन्यत्व है उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् का अनन्यत्व समझना चाहिए। जिस प्रकार रजत की सत्ता आध्यासिक है उसी प्रकार जगत की सत्ता भी अध्यासकालिक ही है। इस प्रकार विवर्तवाद सिद्धान्त अद्वैतवाद का पूर्णतया पोषक है।[3]

सत्ता त्रैविध्यवाद

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत सत्ता विमर्श विशेष रूप से विचारणीय है। सामान्यरूप से वेदान्त के अध्येताओं के द्वारा त्रिविध सत्ता की बात कही जाती है। त्रिविध महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री ने भी एक सत्तावाद तथा सत्ता त्रैविध्यवाद का संकेत ब्रह्मसिद्धि भूमिका के अन्तर्गत किया है।

---

१. वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।—छा०उ० ६-१-४

२. तथा च तद्रूपोपग्राह्यं जगत् तद्वितं इति प्रतीमः।—ब्र०सि० पृ० १८

३. शब्दानुवेधाननुवेधाध्यामर्थे बोधात्कर्षापकर्षयोर्दर्शनाद् बोधोऽपि शब्दाधीनः, इति तद्विवर्तो जगदित्यनिच्छद्भिरपि शब्दविवर्तत्वमभ्युपेयम्।

—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ६०

तथा तथा विधिरूपेण, निषेधरूपेण च विवर्तमानं शब्दतत्त्वमेव प्रतिभायामवभासत।—अभिप्राय प्रकाशिका पृ० ८८

का प्रयोजन हो सकता है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध मे यह वक्तव्य है कि अभिप्राय प्रकाशिकाकार के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप मात्र निष्ठ होने के कारण एवं स्वयंप्रकाश वह विधि का अर्थ नहीं हो सकता।[1] जैसा कि चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत नियोग का स्वरूप निरूपण करते समय कहा जा चुका है, मण्डनमिश्र ने इष्ट साधनता विध्यर्थवाद को स्वीकार किया है किन्तु कुमारिल भट्ट का सिद्धान्त भावना विध्यर्थवाद है जिसके अनुरूप भावना विधि ही आम्नाय का प्रयोगजन है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रभाकर भट्ट ने नियोग वाक्यार्थवाद के द्वारा कुमारिल भट्ट के उक्त सिद्धान्त का खण्डन किया है।

मण्डनमिश्र एवं अभिप्राय प्रकाशिकाकार के अनुसार विधि का अर्थ प्रयोजन) इष्ट साधनत्व है।[2]

विध्यर्थवाद के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि विधि के दो प्रयोजन हो सकते है, एक इष्ट प्राप्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्ति और दूसरा इष्टार्थ साधनता। जहाँ तक प्रथम अर्थात् इष्ट प्राप्ति या मोक्ष प्राप्ति का प्रश्न है वह विधि का प्रयोजन नही हो सकती। जैसा कि कहा गया है वेदान्त के अनुसार ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, कर्म नहीं। इस विषय का प्रतिपादन चतुर्थ अध्याय में किया जा चुका है। अतः अभिप्रायप्रकाशिकाकार के अनुसार विधि का प्रयोजन इष्ट साधनता ही स्वीकार करना चाहिए।[3] इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म श्रुति ज्ञेय है तथा विधि का ब्रह्मज्ञान के लिए साक्षात् उपादेयता नही है।[4] इस प्रकार यदि देखाजाए तो मोक्ष स्वानुभूति स्वरूप एवं नित्य होने के कारण साध्य भी नहीं है।[5] जब साध्य भी नहीं है विध्यर्थ (विधि का प्रयोजन) कैसे हो सकता

---

१. अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ५३४

२. इष्टसाधनत्वं विध्यर्थः। अनन्तकृष्ण शास्त्री ब्र०सि०भू०पृ० ४२

३. इष्टसाधनतामन्तरेणाध्यवसायादेरसम्भवात्।
—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ४१६
तथा
तस्मात् फल साधन एव विधि व्यापारः। ब्र०सि०पृ० ११६

४. देखिए ब्र०सि०पृ० ११५

५. तस्मान्न साध्यो मोक्षः। ब्र०सि०पृ० १२८
तथा
ब्रह्माविर्भावलक्षणस्य मोक्षस्य साध्यत्वं मा भूत
—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ४४६

है। इस प्रकार यही स्वीकार करना चाहिए कि विध्यर्थ इष्ट साधनत्व ही है। विधि की इष्ट साधनता का अभिप्राय यह है कि इसके द्वारा तत्त्वज्ञान में क्षिप्रता आ जाती है।[1]

इस प्रकार सारांशतः यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मसिद्धिकार एवं अभिप्रायप्रकाशिकाकार के अनुसार विध्यर्थवाद के अन्तर्गत विधि की इष्टसाधनता ही अङ्गीकार्य है तथा जैसा कि कहा जा चुका है, यह सिद्धान्त कुमारिल भट्ट के भावनाविध्यर्थ वाद से भिन्न है।

---

१. साधनविशेषाद्धि सा क्षिप्रं क्षिप्रतरं च व्यज्यते, तदभावे चिरेण चिरतरेण च। ब्र०सि०पृ० ३६

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

अभिप्राय प्रकाशिका के आधार पर अद्वैत का तत्व प्रस्थापन

शाङ्कर अद्वैतवाद के प्रतिपादक आचार्यों में अभिप्राय प्रकाशिका के रचयिता चित्सुखाचार्य का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इसका कारण यह है कि चित्सुखाचार्य ने तत्वप्रदीपिका (चित्सुखी) के अन्तर्गत जिस तर्क पद्धति एवं प्रतिपादन शैली का अनुसरण किया था वह अद्वैत वेदान्त ही नहीं, भारतीय दर्शन के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान रखती है। यद्यपि उनकी तर्क पद्धति पर खण्डनखण्डखाद्य के रचयिता श्रीहर्ष की खण्डनात्मक पद्धति तथा अनिर्वचनीयतावादी तर्कपद्धति का पूर्ण प्रभाव है, किन्तु उनकी प्रतिपादन शैली पर शङ्कराचार्य की भाष्यपद्धति-जिसके अनुसार पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष की युक्त योजना मिलती है, का भी स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इस प्रकार यहाँ यह कहना अपेक्षित है कि आचार्यचित्सुख ने अपनी पद्धति के अन्तर्गत न पूर्णतया श्रीहर्ष की पद्धति का अनुकरण किया था और न आचार्यशंकर की भाष्यपद्धति का अनुसरण किया था। उदाहरणार्थ जहाँ श्रीहर्ष खण्डनखण्डखाद्य में "वितण्डा" को अपनी समीक्षा का आधार बनाया था, वहाँ आचार्य चित्सुख ने वाद, जल्प तथा वितण्डा इन तीनों का प्रयोग अद्वैत तत्व के प्रतिपादन के सम्बन्ध में किया था। किन्तु तत्वप्रदीपिका के अन्तर्गत आचार्य चित्सुख ने अद्वैत तत्व का प्रतिपादन खण्डनखण्डखाद्य की तरह निषेधात्मक पद्धति से किया था तथा परम्परा से हटकर अद्वैततत्व के प्रतिपादन के सम्बन्ध में न्यायादि पद्धतियों को अस्वीकार किया था। यों तो वे नैयायिक के हेतुवाद तथा श्रीहर्ष के अनिर्वचनीयवाद दोनों के ही समर्थक थे।

यहाँ यह कहना उचित होगा कि आचार्य चित्सुख की तर्कपद्धति मूलतया बौद्ध कथा वत्थु, महाभाष्य, नागार्जुन वात्स्यायन उद्योतकर तथा उदयन की तर्कपद्धति थी। चित्सुखाचार्य द्वारा अद्वैततत्व के प्रतिपादन के सम्बन्ध में यह तथ्य और उल्लेखनीय है कि आचार्य ने अद्वैत तत्व के पुनः प्रस्थापन के लिए तत्वप्रदीपिका जैसे विद्धन्निकथ ग्रन्थ की रचना नहीं की थी, अपितु ज्ञानकर्म-समुच्यवादीय मण्डनमिश्र द्वारा प्रणीत 'ब्रह्मसिद्धि' पर अभिप्राय प्रकाशिका नामक टीका की रचना करके भी अद्वैततत्व का प्रतिपादन किया था। अभिप्राय प्रकाशिका के टीका ग्रन्थ होने के कारण यद्यपि उसके द्वारा किया गया अद्वैततत्व का प्रतिपादन प्रधान रूप से ब्रह्मसिद्धि पर आधारित है, किन्तु फिर भी अनेक स्थानों पर अभिप्राय प्रकाशिकाकार की मौलिक दृष्टि देखने को मिलती है जिसका उल्लेख अभी अद्वैत तत्व के प्रतिपादन के सन्दर्भ में आगे किया जायेगा। अभिप्रायप्रकाशिकार के प्रतिपादन की यह विशेषता उल्लेखनीय है कि उन्होंने आचार्य शङ्कर के समान पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष की पद्धति के द्वारा विषय प्रतिपादन में वैशद्य लाने का प्रयास किया। साथ ही पारिभाषिक शब्दों के स्पष्टीकरणार्थ सरल शब्दों का प्रयोग किया है।[1] इसके अतिरिक्त अपेक्षा होने पर परिभाषिक शब्दों की लघु परिभाषाएँ भी अभिप्रायप्रकाशिका में प्रस्तुत की गई हैं।[2] कहना न होगा कि इस पद्धति के द्वारा अभिप्रायप्रकाशिका के अन्तर्गत किया गया अद्वैत तत्व का प्रतिपादन सरल एवं सुबोध्य हो गया है। यह बात दूसरी है कि टीका होने के कारण अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत विषय की संक्षिप्तता है।

अब यहाँ अभिप्राय प्रकाशिका के आधार पर अद्वैत तत्व के प्रतिपादन के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा। यों तो अद्वैत तत्व का प्रतिपादन अभिप्राय प्रकाशिकाकार से पूर्व गौडपादाचार्य, शङ्कराचार्य, एवं उन समसामायिक एवं परवर्ती आचार्यों, जिनमें सुरेश्वराचार्य, वाचस्पति मिश्र आदि प्रमुख हैं, के द्वारा पहले ही किया जा चुका था, किन्तु अभिप्रायप्रकाशिकाकार के अद्वैत प्रतिपादन की अपनी विलक्षण एवं प्रभावशाली विशेषताएँ हैं।

---

१. उदाहरणार्थ देखें—

विदुषः प्रारब्धकर्मणां भोगेन क्षपणावस्था जीवन्मुक्तिः।

—अभिप्रकाशिका, पृ० ४५५

२. उदाहरणार्थ देखें—

संसारनिवृत्तिर्मुक्तिः न तु अविद्यानिवृत्तिर्मुक्तिः। —वही, पृ० ४२८

प्रत्ययः अन्तःकरणम्। —वही, पृ० १२५

अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत सर्वोच्च तत्व ब्रह्म तत्व है। यह ब्रह्म तत्व अखण्ड, अज, शाश्वत तथा स्वभाव से ही शुद्ध बुद्ध मुक्त एव आनन्दस्वरूप है। अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने ब्रह्म की आनन्दस्वरूपता के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया है। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि आनन्द ब्रह्म की स्वभाव स्थिति ही है। अतः दुःखाभाव-रूप कहना अभिप्रायप्रकाशिकाकार को को स्वीकार नही है।[1] ब्रह्म के स्वतः प्रकाशमान होने के कारण उसकी आनन्द स्वरूपता स्वतः स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है। यहाँ यह उल्लेखनीय हैकि सत् चित् एवं आनन्द ब्रह्म तत्व के विशेषण न होकर उसके स्वरूप ही है। साथ ही यह भी वक्तव्य है कि सत्, चित् एव आनन्द पृथक्-पृथक् न होकर एक ही वस्तु तत्व ब्रह्म के अपृथक् स्वभाव हैं। वही नहीं, ब्रह्म चित्स्वरूप होने के कारण ज्ञानस्वरूप भी है। ब्रह्म की स्वप्रकाशता उसकी ज्ञानस्फोटता ही है। जैसा कि कठोपनिषद् के अन्तर्गत वर्णित है, ब्रह्म ओंकारस्वरूप एवं अक्षरस्वरूप है।

अभिप्रायप्रकाशिकाकार द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मतत्व समस्त भेदो से रहित है। वस्तुतः अद्वैत वेदान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म की ही वास्तविक एवं पारमार्थिक सत्ता होने के कारण समस्त भेद मिथ्या हैं, यही अद्वैतवाद के प्रस्थापक आचार्य का प्रमुख मन्तव्य है। भेदवाद की सिद्धि न सुख एवं दुःख के भेद के आधार पर की जा सकती और न बद्ध एवं मुक्त जीवो के आधार पर। इसके अतिरिक्त ज्ञाता एवं ज्ञेय के भेद के आधार पर भी भेद की सिद्धि सम्भव नही है। इसके इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि से भी भेद की सिद्धि संभव नहीं है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि एकमात्र अद्वैत स्वरूप ब्रह्म की परमार्थ सत्ता है तथा समस्त भेद अवास्तविक है। अतएव अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने उक्त विचार को प्रमाणिक सिद्ध करते हुए अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत कहा है कि यदि भेद दृष्टि वास्तविक हुई होती तो श्रुति के अन्तर्गत "नाना पश्यति" (अनेक सा देखता है) ही कहा गया है।[2]

यहाँ यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि उपनिषदों से प्राप्त ब्रह्म का

---

१. "एषोऽस्य परमानन्दः" इति श्रुयमाणं परमत्वमानन्दस्य दुःखाभावपक्षे न घटते। —अभिप्रायप्रकाशिका, पृ० ३७

२. यदि तात्त्विकं भेददर्शनम्, तदा—'नाना पश्यति' इत्येवोच्येत, न तु, 'नानेव पश्यति'।—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ४३

शाब्दिक ज्ञान, ध्यान से लब्ध ब्रह्म ज्ञान और साक्षात् अनुभूत ब्रह्मज्ञान किसी, प्रकार भी 'विधि' का अंग नहीं है।

अभिप्रायप्रकाशिकाकार के अनुसार औपनिषद ज्ञान ब्रह्म बोध का साधन है। यहाँ तक यह कहना संगत होगा कि ब्रह्म का शाब्दिक ज्ञान होने पर भी पूर्व संस्कार के कारण मिथ्या ज्ञान की अनुवृत्ति होती है। परन्तु फिर भी उपनिषदों से प्राप्त शाब्दिक ज्ञान के निरन्तर अभ्यास करने वाले मनीषी विद्वान को पूर्ववत् मिथ्या ज्ञान की अनुवृत्ति नहीं होती तथा क्रम से उस मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति आत्यन्तिक रूप से हो जाती है। इसीलिए सूर्यनारायण शास्त्री ने भी आध्यात्मिक विवेचन को जो एक प्रकार से शाब्दिक ज्ञान के अभ्यास का ही रूप है, ब्रह्म साक्षात्कार का कारण माना है।[1] जहाँ तक ब्रह्म-साक्षात्कार के सम्बन्ध में मननादि की उपयोगिता का प्रश्न है, इस विषय में अभिप्रायप्रकाशिकाकार का मत है कि ब्रह्म के शब्द के द्वारा प्रतिपादित होने पर भी उसके साक्षात्कार के लिए मननादि की प्रवृत्ति की अंगता स्वीकार करनी चाहिए।[2] ब्रह्म की आनन्दस्वरूपता के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों का विचार है कि ब्रह्मानन्द की व्याख्या सुषुप्ति के पश्चात् अनुभूत 'सुखमहम-स्वाप्सम्' (मैं सुख पूर्वक सोया) इस अनुभूति के आधार पर सरलता से की जा सकती है। इसका कारण यह है कि सुषुप्ति के पश्चात् जिस आनन्द का अनुभव होता है, वह आत्मा का ही आनन्द है, क्योंकि सुषुप्ति में अन्तःकरण का लय आत्मा में ही हो जाता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि यदि सुषुप्ति अवस्था में आनन्द का अनुभव न हुआ होता तो सुषुप्ति के पश्चात् 'मैं सुख पूर्वक सोया' इस प्रकार की स्मृति कैसे सम्भव होती। इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्ति कालीन सुखानुभूति आत्मानुभूति ही है। इसीलिए उपनिषदों में कहा गया है—

"अहरहर्गच्छन्त्य एवं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति।[3]'

कि जीव प्रतिदिन ब्रह्मलोक में जाते हैं। यहाँ यह वक्तव्य है कि विद्वानों का तर्क समुचित नहीं है। उक्त मत के निराकरणार्थ यह कहा जाएगा कि यह

---

१. 'An Advaitin's plea for continuity.' (Proceedings and Transactions of the Ninth All India Oriental Conference Trivandrum, December, 1937), p, 520-528.

२. तर्हि शब्देनापि प्रतिपादिते ब्रह्माणि साक्षात्करणाय मननादिप्रवृत्यंगता समानेति। —अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ५३५

३. छान्दो०उ० ८-३-२

आवश्यक नहीं है कि सुषुप्ति के पश्चात् आत्मानन्द की अनुभूति का 'मैं सुख पूर्वक सोया' इस स्मृति के रूप में स्मरण हो। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार की दुखानुभूति न होने के कारण सुखपूर्वक शयन करता है, तो वह भी सुषुप्ति के पश्चात् 'मैं सुख पूर्वक सोया' इस प्रकार का स्मरणानुभव करता है। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मानन्द अथवा ब्रह्मानन्द की व्याख्या सुषुप्ति अवस्था में अनुभव सुख के आधार नहीं की जा सकती।[1]

ब्रह्म की आनन्दस्वरूपता के सम्बन्ध में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि यदि ब्रह्म मे आनन्दस्वरूप है तो उस आनन्द का अनुभवकर्ता भी अपेक्षित है। इसी प्रकार यदि ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है तो उसका ज्ञाता भी अपेक्षित है। अतः इस प्रकार यदि ज्ञाता एवं ज्ञेय तथा आनन्द एवं उसके अनुभवकर्ता के रूप मे विचार किया जाता है तो द्वैत का प्रसंग उपस्थित होता है। इस सम्बन्ध में यह कहा जाएगा कि ब्रह्म को आनन्दस्वरूप अथवा ज्ञानस्वरूप कहने का आशय उसकी विषयता से कदापि नहीं है। ब्रह्म की विषयता सिद्ध करने पर तो वह देश, काल की सीमा में बंध जाएगा तथा इस प्रकार उसके देशकालतीत्व का विरोध होगा। अतः ब्रह्म की आनन्दस्वरूपता एवं ज्ञानरूपता से यही आशय है कि जीव स्वभाव से ही सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म है। अतः जीव के स्वानुभूति स्वरूप ज्ञान एवं आनन्द की स्थिति में ज्ञाता एवं ज्ञेय अथवा आनन्द के अनुभवकर्ता तथा आनन्द के द्वैतभाव का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि परमार्थ ज्ञान एव परमानन्द का अनुभव स्वप्रकाशानुभव ही है। यहां यह कहना संगत होगा कि ज्ञाता एवं ज्ञेय का संबंध इसलिए सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि दोनों का भिन्न स्वभाव है। जहाँ ब्रह्म अथवा आत्मा शुद्ध ज्ञान स्वरूप तथा पूर्णतया सत् है, वहाँ विषय रूप ज्ञेय जगत् अचेतन एवं मिथ्या है। अतः आत्मा एवं जगत्, ज्ञाता एवं ज्ञेय का सम्बन्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अन्तःकरण की वृत्ति के आधार पर चेतन एवं अचेतन का सम्बन्ध सिद्ध करते हुए यह कहा जाता है कि आत्मा के अधिष्ठान होने के कारण अन्तःकरण तैनस होकर विषयों को प्रतिबिम्ब रूप में ग्रहण करता है। इस विषय ग्रहण के सम्बन्ध आत्मा से किन्चन् मात्र भी नहीं होता। अतः आत्मा एव जगत् में ज्ञाता एवं ज्ञेय का सम्बन्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि कहा जाए कि अन्तःकरण जो जड़ है, आत्मा के प्रतिबिम्ब के कारण चेतनवत् प्रतीत होता है। इस प्रकार जड़ अन्तःकरण में चेतन आत्मा का प्रतिबिम्ब सत् न होकर मिथ्या ही है। एवम् अन्तःकरण वृत्ति के

---

१. अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ३६-४०

आधार पर ज्ञाता एवं ज्ञेय का सम्बन्ध सिद्ध करना सर्वथा अनुचित है। यहां यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त विचार धर्मराजाध्वरीन्द्र द्वारा वेदान्त परिभाषा[1] के अन्तर्गत व्याख्यात वृत्ति विचार का विरोधी है।[2] ऊपर जिस ज्ञाता, ज्ञेय एवं अचेतन तथा चेतन के खण्डन का विचार प्रस्तुत किया गया है, उसी का अनुसरण आनन्दबोध ने भी किया है। संक्षेप में यहाँ यह कहा जाएगा कि ब्रह्मसिद्धिकार[3] तथा अभिप्राय प्रकाशिकाकार[4] दोनों ने ही ज्ञाता, ज्ञेय एवं चेतन तथा अचेतन के सम्बन्ध को स्वीकार किया है।

यदि संयोग सम्बन्ध स्वीकार किया जाएगा तो ब्रह्म तथा आनन्द में द्रव्य एवं धर्म में सम्बन्ध की स्थापना के लिए पुनः सम्बन्ध की अपेक्षा होगी। साथ ही ब्रह्म रूप द्रव्य एवं आनन्दरूप धर्म में सहयोग सम्बन्ध की स्थापना के लिए पुनः सम्बन्ध की स्थापना आवश्यक होगी। इस प्रकार यदि इस सम्बन्ध के पर ब्रह्मरूप द्रव्य एवं आनन्द रूप धर्म में सम्बन्ध स्थापित किया जाएगा तो इस सम्बन्ध का ब्रह्मरूप द्रव्य तथा आनन्दरूप धर्म से सम्बन्ध स्थापित करना होगा और इस प्रकार एक अन्य सम्बन्ध की स्थापना करनी होगी। अतः इससे तो अनवस्था दोष ही उत्पन्न होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म को द्रव्य तथा आनन्द को धर्म मानकर संयोग सम्बन्ध की स्थापना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार ब्रह्म एवं आनन्द के सम्बन्ध में समवाय सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि यदि समवाय सम्बन्ध मानेंगे तो दो प्रकार के सम्बन्ध मानने पड़ेंगे। एक समवाय का द्रव्य के साथ और दूसरा धर्म के साथ और इस प्रकार इस प्रक्रिया का अंत नहीं होगा। क्योंकि इन सम्बन्धों की स्थापना के लिए सम्बन्धान्तर की स्थापना करनी पड़ेगी, जिससे अनवस्था दोष होगा।[5] इस प्रकार निष्कर्ष रूप से यह कथन समीचीन होगा कि ब्रह्म तथा आनन्द को द्रव्य एवं धर्म कहना समुचित नहीं है।

जैसा कि द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है ब्रह्म कौन

---

१. वेदान्त परिभाषा, पृ० ९ (बम्बई संस्करण १९८९)

2. S.N. Das Gupta, A History of Indian Philosophy, Vol. II p. 89.

३. ब्र०सि० पृ० ८

४. उक्तनीत्या सम्बन्धशून्यस्य परमार्थतः प्रतिभायोगात् चैतन्यमेव स्वमायावेशवशेन विवर्तमानमवभासत इत्यभ्युपेयम्। —अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ५२

5. T.M.P. Mahadevan, Gaudapada, p. 134

द्रव्य माना जा सकता है और न तत्स्वरूप आनन्द को उसका धर्म। ऐसा मानने पर उनमें न संयोग सम्बन्ध की स्थापना की जा सकती है और न समवाय सम्बन्ध की।

कार्यकारणवाद की समस्या वेदान्त का प्रधान एवं महत्वपूर्ण विषय है। वेदान्त में ब्रह्म को जगत् का कारण कहा गया है। किन्तु यदि ब्रह्म को जगत् का कारण कहा जाएगा तो ब्रह्म का भी कोई कारण मानना पड़ेगा। यदि कहा जाए कि ब्रह्म का कोई कारण न होकर ब्रह्म सर्वथा स्वतंत्र अस्तित्व रखता है तो यही बात जगत् के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होगी तथा जगत् का भी स्वतंत्र अस्तित्व मानना पड़ेगा और यदि ब्रह्म एवं जगत् का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया जाएगा तब तो द्वैतापत्ति संभव होगी। अतः जगत् का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जा सकता। इसीलिए वेदान्त में ब्रह्म को जगत् का कारण कहा गया है। श्रुति भी 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' आदि वचनों के द्वारा ब्रह्म को जगत् का कारण सिद्ध करती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ब्रह्म को जगत् का कारण सिद्ध करना अध्यारोप की दृष्टि से है, परमार्थ की दृष्टि से नहीं। इसीलिए अपवाद न्याय से अध्यारोप का खण्डन किया जाता है तथा ब्रह्म की ही स्वरूप सिद्धि की जाती है तथा इस प्रक्रिया के द्वारा जगत् का मिथ्यात्व भी सिद्ध होता है। अद्वैत सिद्धि की निष्पत्ति करते हुए अभिप्रायप्रकाशिकाकार का कथन है कि जिस प्रकार मृत्तिका घटादि रूप मृत्तिका से भिन्न न होकर तदात्मक है तथा चन्द्रमा के अनेक भेद मूल चन्द्ररूप ही हैं, इसी प्रकार जगत् भी शब्दात्मक (ब्रह्मात्मक) ही है। यहाँ यह तथ्य भी निर्देश करने योग्य है कि ब्रह्म एवं जगत् में उसी प्रकार अनन्यत्व है जिस प्रकार कि शुक्ति एवं रजत तथा रज्जु एवं सर्प के उदाहरण में शुक्ति रजत तथा रज्जु सर्प में अनन्यत्व है। भिन्न-भिन्न नाम एवं रूपों के द्वारा दृश्यमान जगत् के अनेक विषय सत्ता समान्य होने के कारण एक ही हैं। इसी तथ्य को वेदान्त में अधिष्ठानवाद सिद्धान्त के आधार पर भी स्पष्ट किया गया है। अधिष्ठानवाद के अनुसार ब्रह्म समस्त जगत् का अधिष्ठान है तथा जगत् अध्यास।[1]

---

१. यथा मृद्विकाराः, चन्द्रभेदा वा तत्यामानाधिकरण्येनानवभासमानास्तदात्मकाः, तथा.....जगदपि तदात्मकम्।

—अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ८५

अभिप्रायप्रकाशिकाकार को अनेकता में एकता तथा भेद में अभेद का सिद्धान्त भी स्वीकार नहीं है। अभिप्रायप्रकाशिकाकार का मत है कि एकमात्र ब्रह्म की ही सत्यता है तथा जगत् दृष्टि मात्र रूप है। इस सम्बन्ध में दिया गया अलात चक्र का दृष्टान्त अत्यन्त उपयुक्त है। जिस प्रकार अलात चक्र के अन्तर्गत अग्नि का चक्र मिथ्या है, उसी प्रकार जगत् भी मिथ्या है तथा एक मात्र ब्रह्म की ही परमार्थ सत्यता है।

ब्रह्मसिद्धिकार के अनुरूप अभिप्राय प्रकाशिकाकार आचार्य चित्सुख का ब्रह्म सम्बन्धी सिद्धान्त समन्वित किन्तु बहुमुखी है। परिणामतः उनके ब्रह्म सम्बन्धी निरूपण में उपनिषदों, श्री मद्भगवद्गीता एवं ब्रह्मसूत्र भाष्य के अन्तर्गत विवेचित सिद्धान्तों का समन्वयात्मक दृष्टिकोण उपलब्ध होता है। इसके साथ ही साथ अभिप्रायप्रकाशिका के अन्तर्गत ब्रह्म तत्व का विवेचन अनेक दृष्टिकोणों के आधार पर किया गया है। अभिप्राय प्रकाशिकाकार के अनुरूप शब्दब्रह्म अद्वैत स्वरूप है। शब्दब्रह्म को ही शब्द सामान्य भी कहा गया है।[1] एवञ्च ब्रह्मसिद्धिकार एवं अभिप्रायप्रकाशिकाकार के शब्द ब्रह्मवाद पर भर्तृहरि के शब्दाद्वैत[2] का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इस विषय का विवेचन द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत 'स्फोटवाद एवं अद्वैतवाद' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

ब्रह्मतत्व अक्षर स्वरूप है! जहाँ तक जगत् का सम्बन्ध है वह जैसा कि भर्तृहरि ने भी कहा है, ब्रह्म का विवर्तस्वरूप है।[3] यही विचार अभिप्रायप्रकाशिकाकार को भी स्वीकार्य है, जिसके अनुसार जगत् वाक्शक्ति का परिणाम है। जैसा कि कुप्पूस्वामी शास्त्री ने ब्रह्मसिद्धि की भूमिका के अन्तर्गत कहा है, ब्रह्मसिद्धिकार को भी शब्दाद्वैतवाद ही विशेषरूप से स्वीकार्य है।

अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत अविद्या का विशेष महत्व है। यह अविद्या ही है

---

१. अभिप्राय प्रकाशिका पृ० ८२

२. अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥—वाक्यापदीय १-१

3. See, Dr. K. Kunjunni Raja's article, 'Yaska' Definition of the 'Verb' and the Noun' in the light of Bhartrhari's explanation'. Annals Oriental Research, Contenary number, University of Madras, Vol. XIII. 1957. Sanskrit section pp. 86-88.

जिसके आधार पर ईश्वर का जगत् कर्तत्व, जाव का भोक्तत्व एवं संसार का स्वरूप प्रतिपादित किया जा सकता है। अतः सिद्धान्त प्रतिपादन की दृष्टि से अविद्या का महत्व यदि ब्रह्म से अधिक कहा जाए तो यह कथन अतिश्योक्ति पूर्ण न होगा। ब्रह्मसिद्धिकार एवं अभिप्राय प्रकाशिकाकार दोनों के अनुसार अविद्या एव माया में भेद न होकर दोनों एक ही हैं। अविद्या के स्वरूप के सम्बन्ध में एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए अनेक अग्रहण एवं ग्रहणरूप से ही दो भेद प्रस्तुत किए गए हैं। अग्रहण से परमतत्व अर्थात् ब्रह्मतत्व के ग्रहण न करने का आशय है। तात्पर्य यह है कि अविद्या के कारण व्यक्ति ब्रह्म के स्वरूप को नहीं ग्रहण कर पाता। अविद्या के ग्रहण रूप का अर्थ यह है कि अविद्या के कारण जागतिक विषयों को सत्य रूप में ग्रहण करता है। अविद्या के सम्बन्ध में अभिप्रायप्रकाशिकाकार की यह दृष्टि विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वे अविद्या के द्वारा विद्या के बोध का समर्थन करते हैं। उनका कथन है कि वर्णों की आधार रूप रेखाएँ यद्यपि वर्ण स्वरूप नहीं है किन्तु फिर भी वे परिणाम में वर्ण की बोधक हैं। अतः उन्हें असत् नहीं कहा जा सकता।[1] अतः अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने अविद्या के द्वारा विद्या की प्राप्ति के सिद्धान्त के मत का समर्थन किया है।

अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत अविद्या के आश्रयित्व के सम्बन्ध में भी विशेष रूप से विचार किया है। अविद्या का आश्रय ब्रह्म न होकर जीव है। अविद्या के कारण ही जीव का जीवत्व है। ब्रह्म अविद्या का आश्रय इसलिए नहीं हो सकता कि ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है। अतः उसमें अज्ञान की कल्पना निरर्थक है। इस प्रकार अविद्या का आधार जीव ही हो सकता है। अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने अविद्या की एक और विशेषता का उल्लेख करते हुए कहा है कि अविद्या जीव का आश्रय लेकर जीव में ही भेद उत्पन्न करती है।[2]

अविद्या जगत् के प्रपञ्च भ्रद एवं जीव के बन्धन का कारण है। अविद्या की निवृत्ति श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा सम्भव है। श्रवणादि के द्वारा समस्त भेद प्रपंच का प्रतिषेध होने पर अद्वैत वोध होता है तथा वोध होने के पश्चात् कतकचूर्ण कलुष्य को समाप्त करके स्वयं भी

---

१. अभिप्राय प्रकाशिका पृ० ७१

२. जीवमाश्रित्य जीवमेव विभेत्स्यति।—अभिप्राय प्रकाशिका पृ० ५८

नष्ट हो जाता है। इस प्रकार यदि देखा जाए तो श्रवणादि भी अविद्या ही है।[1]

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जीव तथा ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन करने के लिए भामती सम्प्रदाय तथा विवरण सम्प्रदाय के अन्तर्गत क्रमशः अवच्छेदवाद का आश्रय लिया गया है। इन दोनों सिद्धान्तों को प्रथम अध्याय के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है। ब्रह्मसिद्धिकार एवं अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने इन दोनों सिद्धान्तों को स्वीकार किया है तथा आवश्यकता पड़ने पर इन दोनो का ही प्रयोग है।[2] ये दोनों ही सिद्धान्त अद्वैत सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिपादक है। अवच्छेदवाद के अनुसार एक ही आकाश घट, मणि एवं करकादि की उपाधि के कारण घटाकाशादि रूप भेद को प्राप्त होता है किन्तु घट एवं मठ आदि के नष्ट होने पर घटाकाशादि भेद समाप्त हो जाता है तथा एक ही आकाश शेष रह जाता है, उसी प्रकार अविद्योपाधि के कारण एक ही ब्रह्म मे अनेक जीव भेद उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु जब अविद्योपाधि का अवच्छेद हो जाता है तो मात्र ब्रह्म ही अवशेष रह जाता है। इस प्रकार जैसा कि सिद्धान्त लेशकार अप्पयदीक्षित का भी कथन है घटाकाश के समान अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं।[3] अतः भामतीकार के अवच्छेदवाद सिद्धान्त के अनुसार जीव न आत्मा से भिन्न है और न उसका विकार है।[4] यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि अवच्छेदवाद सिद्धान्त के प्रवर्तक वाचस्पति मिश्र ही हैं किन्तु इस सिद्धान्त के बीज ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य में स्पष्ट रूप से मिलते है यर एवात्मा देहेन्द्रियमानो बुद्धयुपाधिभिः परिच्छ्यमानो बालैः शरीर इत्युपचर्यते। यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवदाभासते तद्वत्। (ब्र०सू०शा०भा० १. २. ६.) इसी प्रकार प्रतिबिम्बवाद के अनुसार भी एक ही सूर्य अनेक जलाशयों में अनेक प्रतिबिम्बों के रूप में दिखलाई पड़ता है किन्तु मूलतया विश्व में बिम्ब रूप से एक ही होता है। इसी

---

१. अविद्या तु श्रवणादिलक्षणा। —अभिप्रायप्रकाशिका पृ० ७०

२. ब्र०सि०पृ० ७, १६ —अभिप्राय प्रकाशिका पृ० ४७-४८

३. घटाकाशवदन्तः करणाविछिन्नं चैतन्यं जीवः।
—सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह १. ४. १.

४. न जीवः आत्मनोऽन्यः नापि तद्विकारः किन्त्वात्मैवाविद्योपादान कल्पितावच्छेदः आकाश इव घटमणिकरकादिकल्पितावच्छेदो घटाकाशो मणिकाकाशो न तु परमाकाशादन्यस्तद्विकारो वा।
भामती ब्र०सू०शा० भा० १. ४. २ डिक्शनरी ऑफ वेदान्त-पृ० ११

प्रकार अखण्ड ब्रह्म भी एक ही है। तथा सांसारिक जीवन उसके प्रतिबिम्ब है। यहाँ यह और विचारणीय है कि अवच्छेदवाद की ही तरह प्रतिबिम्बवाद के आधारभूत बीज भी ब्रह्मसूत्रशाङ्कर भाष्य के अन्तर्गत उपलब्ध होते है, जैसा कि निम्नलिखित भाष्यांश से स्पष्ट है—

'आभास एव चैव जीवः परमात्मनो जलसूर्यादिवत् प्रतिपत्तव्यः।'[1]

ब्र० सू शा० भा० ११. ३. ५० डिक्शनरी ऑफ वेदान्त पृ, ।।

इस प्रकार अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद दोनों के ही आधार पर अद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। ख्याति के सम्बन्ध मे विचार करते हुए अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने विशेषतः विपरीत ख्याति एवं अनिर्वचनीय ख्याति का प्रतिपादन किया है।[2] शुक्ति का रजत रूप में भासित होना ही विपरीत ख्याति है। यदि देखा जाए तो विपरीत ख्याति का आशय अन्यथा तथा असत् ख्याति के अन्तर्गत शुक्ति में पूर्व दृष्ट रजत का अन्यथाज्ञान विपरीत ज्ञान ही है। इसी प्रकार अभिप्राय प्रकाशिकाकार आचार्य चित्सुख ने प्रधान रूप से विपरीतख्याति का उल्लेख किया है। विपरीतख्याति ही अनिर्वचनीय ख्याति इसलिए है कि शुक्ति में विपरीत रूप से अध्यस्त रजत अद्वैतवेदान्त के अनुसार सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है। अभिप्राय प्रकाशिका के अन्तर्गत योगाचार बौद्धों की आत्मख्याति माध्यमिक शून्यवादी की असत्ख्याति प्रभाकरमीमांसक की अख्याति तथा नैयायिक की अन्यथाख्याति का उल्लेख किया गया है किन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है अभिप्रायप्रकाशिका के अन्तर्गत भाट्टमीमांसक द्वारा स्वीकृत विपरीतख्याति का ही बहुत कुछ समर्थन किया है।

उपनिषदों द्वारा अधिगत तत्वज्ञान परोक्ष है, अतः उस परोक्षज्ञान के साक्षात् अनुभव के लिए प्रसंख्यान (पुनः पुनः मनन) की आवश्यता स्वीकार की गई है। भामती सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भी ब्रह्म साक्षात्कार के लिए प्रसंख्यान को साधन के रूप स्वीकार किया है, किन्तु विवरण सम्प्रदाय के आचार्य प्रकाशात्मयति तथा सुरेश्वराचार्य शाब्दज्ञान को ही ब्रह्म साक्षात्कार का कारण स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यहाँ प्रसंख्यान के

---

१. द्रष्टव्य—
अमूर्तस्य चाकाशस्य साभ्रनक्षत्रस्य जले प्रतिबिम्बवत् अमूर्तस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्बसंभवात्। पञ्चपादिका विवरण पृ० २८६

२. अभिप्राय प्रकाशिका पृ० ४१२

समर्थक मण्डनमिश्र, वाचस्पति मिश्र एवं अभिप्राय प्रकाशिकाकार आचार्य चित्सुख के मत की समानता अवलोकनीय है।

अद्वैतवेदान्त के समर्थक अभिप्राय प्रकाशिकाकार ने "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्" के आधार पर आम्नाय के क्रिया प्रयोजनत्व को न स्वीकार करके, उसे वेदान्त परक ही स्वीकार किया है।[1] इस सम्बन्ध में नियोग के विषय में विशेष रूप से विचार किया गया है। नियोग का तात्पर्य आम्नाय द्वारा प्रतिपादित क्रिया विधि से है जिससे यज्ञादि विधि का ग्रहण किया जाता है। प्रधान समस्या यह है कि नियोग विधि का ब्रह्म ज्ञान से क्या सम्बन्ध है। जहाँ तक मीमांसा दर्शन का सम्बन्ध है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उसके अनुसार नियोग एवं क्रिया-विधि को आम्नाय का प्रयोजन कहा गया है। इस सम्बन्ध में मण्डनमिश्र, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर भट्ट के मत विशेष रूप से विचारणीय हैं। शङ्कराचार्य तथा मण्डनमिश्र दोनों ने ही नियोग की इष्ट साधनता स्वीकार की है। कुमारिल भट्ट का अभिमत सिद्धान्त भावना-विध्यर्थवाद है। इस सिद्धान्त के अनुसार भावना विधि ही आम्नाय का प्रयोजन है किन्तु इसके विपरीत प्रभाकर भट्ट ने नियोग-वाक्यार्थवाद के द्वारा कुमारिल भट्ट के उक्त सिद्धान्त का खण्डन किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि उक्त दृष्टि से कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर के सिद्धान्त में मतभेद है, किन्तु ये दोनों ही आचार्य अद्वैतवेदान्त के विरोधी हैं। जहाँ तक मण्डनमिश्र, अभिप्राय प्रकाशिकाकार आचार्य चित्सुख का प्रश्न है, ये दोनों ही आचार्य आम्नाय प्रतिपादित विध्यर्थ वाक्यों की तत्वज्ञान के निमित्त से साधनता स्वीकार करते हैं। इस प्रकार नियोग आम्नाय का साध्य न होकर वेदान्त एवं ब्रह्मज्ञान का साधन ही है। इसीलिए ब्रह्मज्ञान के सन्दर्भ में यज्ञादि क्रिया विधि की साधनता के विशदीकरणार्थ चित्सुखाचार्य के द्वारा अश्व दृष्टान्त को प्रस्तुत किया गया है। अश्व द्रष्टान्त के द्वारा यह मत पुष्ट किया गया है कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति अश्व पर सवार होकर वृषभादि वाहन की अपेक्षा गन्तव्य स्थान पर शीघ्रता से पहुँच जाता है, उसी प्रकार यज्ञादि विधि के सम्पादन से साधक को शीघ्र मोक्ष की सिद्धि होती है।

मोक्ष का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त ही नहीं समस्त आस्तिक दर्शन पद्धतियों का प्रधान विषय है। जैसाकि द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है, जीव की अविद्यानिवृत्ति की स्थिति ही मोक्ष है। वस्तुतः जीव स्वभाव से ब्रह्म स्वरूप ही है, किन्तु अविद्योपाधि के कारण जीव का जीवत्व है।

---

१. अभिप्रायप्रकाशिका पृ० २८२

जब अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तो जीव ब्रह्मस्वरूप से ही शेष रह जाता है।

मुक्ति के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि अभिप्राय प्रकाशिकाकार सद्योमुक्ति एवं जीवन्मुक्ति दोनों सिद्धान्तो का समर्थन करते है, किन्तु विशेष रूप से वे जीवन्मुक्ति के ही समर्थक है। वे यह स्वीकार करते है कि अविद्या की निवृत्ति एव कर्माक्षय होने पर ब्रह्मज्ञान होता है, किन्तु कुछ ऐसे व्यक्ति होते है जिनका मोक्ष, तत्वज्ञान होने पर तुरन्त हो जाता है। ये सद्योमुक्त कहलाते हैं। दूसरे प्रकार के तत्वज्ञानी जीवन्मुक्त होते है जो अविद्या निवृत्ति एवं तत्वज्ञान होने पर भी प्रारब्ध भोगो की समाप्ति पर्यन्त संस्कारवश शरीर धारण करते हैं। लोक में वह दृष्टिगोचर होता है कि कुछ पुरुष तो रज्जु मे आरोपित सर्प के दर्शन से जब भयभीत होते है तो रज्जु का बोध होने पर उनका भय दूर हो जाता है, किन्तु एक दूसरे प्रकार के ऐसे व्यक्ति भी होते है जिनको रज्जु का बोध होने पर भी भय बना रहता है तथा वे आरोपित सर्प के भय से काँपते रहते है। यह तर्क जीवन्मुक्ति का समर्थक है। सर्वज्ञात्ममुनि भी विशेष रूप से सद्योमुक्ति के ही समर्थक है किन्तु वे जीवन्मुक्ति का भी समर्थन करते है। वे जीवन्मुक्ति को अर्थवाद मात्र मानते है। इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्मा जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं, किन्तु वे संस्कारों के आधार पर जीवन्मुक्त के शरीर धारण करने के पक्षपाती नहीं है। उनका कहना है कि ब्रह्मज्ञान होने पर संस्कारों का भी उच्छेद हो जाता है। परन्च मधुसूदन सरस्वती संस्कारों के आधार पर जीवन्मुक्ति का समर्थन ही करते हैं।

अभिप्रायप्रकाशिका के अन्तर्गत साधक एवं सिद्धि, सिद्ध एव जीवन्मुक्त, आधिकारिक जीवन्मुक्त एवं सिद्धजीवन्मुक्त, स्थितप्रज्ञ साधक एवं गुणातीत तथा साधक एवं जीवन्मुक्त के सम्बन्ध मे भी विचार किया गया है। गीता के स्थितप्रज्ञ से साधक का तात्पर्य है, जीवन्मुक्त का नहीं।[1] किन्तु आचार्य शङ्कर ने विवेकचूडामणि के अन्तर्गत स्थितप्रज्ञ से जीवन्मुक्त का आशय ग्रहण किया है, जैसा कि पञ्चम अध्याय के अन्तर्गत भी कहा जा चुका है। जहाँ तक सिद्धि का प्रश्न है, सिद्धि से ब्रह्मसिद्धि अथवा मोक्ष का तात्पर्य है तथा

---

१. स्थितप्रज्ञः साधकावस्थः इति मण्डनमतम्।

—अनन्तकृष्ण शास्त्री, ब्र०द्धि० भू० पृ० ७१

सिद्ध पुरुष जीवन्मुक्त होता है। अनाश्रमी, उर्ध्वरेतस् तथा आधिकारिक सिद्ध जीवन्मुक्त होने के योग्य होता है। गृहस्थ पुरुष साधकावस्था में विदेह जनक की तरह रहते हुए अन्तः विधेय कैवल्य को प्राप्त करते हैं। अपान्तरतमादि आधिकारिक जीवन्मुक्त अपने अधिकार के निर्वाहार्थ जन्म-जन्मान्तर का ग्रहण करते हैं। जब आधिकारिक जीवन्मुक्ति का समय व्यतीत हो जाता है तो यह सिद्धजीवन्मुक्त कहलाते हैं। जहाँ तक स्थितप्रज्ञ एवं गुणातीत की बात है, ये दोनों एक ही हैं तथा गुणातीतावस्था की सप्तम भूमिका में स्थितप्रज्ञ ही सिद्ध है, साधक उससे भिन्न है।[1] इस सम्बन्ध में विशेष पञ्चम अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। कर्म एवं ज्ञान का सम्बन्ध ब्रह्मसिद्धि का प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण विषय है। जैसा कि अभिप्रायप्रकाशिकाकार ने स्पष्ट किया हैं, कर्म उपाय तथा ज्ञान उपेय है। इस सिद्धान्त के अनुसार कर्म एवं ज्ञान में सर्वथा विरोध नहीं है। यज्ञादि कर्म श्रुति में विधान होने के कारण ज्ञान के लिए उसकी साधनता स्वीकार की गई है। जिस प्रकार इन्द्रियों तथा मन का विग्रह मोक्ष का साधन है, इसी प्रकार यज्ञादि कर्म की साधनता भी स्वीकृत है। यद्यपि ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत यह प्रतिपादित किया गया है कि आजीवन ब्रह्मचर्य जीवन का निर्वाह करते हुए व्यक्ति इन्द्रिय निग्रह एवं शास्त्राभ्यास के द्वारा यज्ञादि कर्म का सम्पादन किए बिना ही, मोक्ष लाभ कर सकता है, तथापि यदि व्यक्ति उपर्युक्त के साथ यज्ञादि कर्म का सम्पादन करता है तो उसे मोक्ष लाभ की सिद्धि शीघ्रता से हो जाती है। इस सम्बन्ध में गन्तव्य स्थान पर शीघ्र पहुंचने वाले अश्ववाह का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है। जिसका संकेत इसी अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। इस प्रकार मोक्षोपलब्धि में आश्रम कर्म की साधनता भी स्वीकार की गई है। जहाँ तक संन्यास की बात है संन्यास मोक्ष का अनिवार्य साधन नहीं है, किन्तु यहाँ यह कथन महत्वपूर्ण है कि कोई व्यक्ति यदि ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास आश्रम ग्रहण करता है तो वह इन्द्रिय निग्रह आदि का निर्वाह करते हुए यज्ञादि कर्म का बिना सम्पादन किए ही मोक्ष लाभ कर सकता है। वहाँ गृहस्थ एवं संन्यासी के आचार का यह पक्ष अवलोकनीय है कि जहां गृहस्थ पुरुष श्रुति-समर्पित

---

१. तत्र गुणातीत-स्थितप्रज्ञयोरैक्यमेव। गुणातीतावस्थाख्यसप्तम भूमिकास्थः स्थितप्रज्ञः सिद्धः, अपरस्तु साधक एव।

—अनन्तकृष्ण शास्त्री, ब्र०सि०भू० पृ० ७३

यज्ञादि कर्म का सम्पादन करता है वहां संन्यासी के द्वारा इन कर्मों का सम्पादन ही नहीं किया जाता।[1]

सारांशतः यह कहा जाएगा कि मोक्ष की साधनता के सम्बन्ध में शङ्कराचार्य परवर्ती विद्वानो में मतभेद मिलता है। उदाहरणार्थं भारतीय निर्गुण ब्रह्म के चिन्तन को मोक्ष का साधन स्वीकार करते हैं। ये वेदान्त शास्त्र की जिज्ञासा को मोक्ष के कारण के रूप में नहीं स्वीकार करते।

वेदान्त जिज्ञासा का मार्ग केवल उन्ही के लिए है जो वैदुष्य सम्पन्न है तथा जिनमें श्रुति के तात्पर्य को समझने की सामर्थ्य है।[2] किन्तु जो शास्त्र निष्णात नही है, उनके लिए योग द्वारा समर्पित निर्गुण ब्रह्म के चिन्तन का मार्ग ही समुचित है। दोनों ही मार्गों के द्वारा मोक्ष की उपलब्धि सम्भव है। उपर्युक्त दोनों मार्गों के अतिरिक्त मधुसूदन सरस्वती भक्ति मार्ग को भी मोक्ष का कारण स्वीकार करते हैं।[3] जैसाकि ऊपर कहा गया है, जहाँ तक मण्डन मिश्र एवं अभिप्राय प्रकाशिकाकार आचार्य चित्सुख का प्रश्न है, इनके अनुसार गृहस्थ भी चिन्तन एवं यज्ञादि कर्म के सम्पान के द्वारा शीघ्र मोक्ष लाभ प्राप्त सकता है। जहाँ मधुसूदन सरस्वती मोक्ष के सम्बन्ध में भक्ति मार्ग को महत्व देते हैं, वहाँ मण्डनमिश्र आश्रम कर्म की महत्ता का प्रतिपादन करते है। यदि विचार कर देखा जाय तो मण्डनमिश्र एक समन्वयवादी दार्शनिक है जो एक ओर मोक्ष प्राप्ति के लिए शास्त्र चिंतन के द्वारा ज्ञानोपलब्धि के मार्ग का समर्थन करते है तथा दूसरी ओर यज्ञादि कर्मों की भी साधनता का प्रतिपादन करते हैं। वे न मीमांसक की तरह कर्म की सर्वोपरि महत्ता स्वीकार करते है और न अद्वैती शङ्कर की तरह कर्म को अविद्या ही मानते हैं। यहां यह तथ्य पुनः कथनीय है कि मण्डनमिश्र एवं अभिप्रायप्रकाशिकाकार का ज्ञान मोक्ष का कारण है, इस सिद्धान्त से कथमपि विरोध नहीं है। अन्तर केवल कर्म की उपादेयता एवं अनुपादेयता का है। यहां यह भी उल्लेख किया है कि शङ्कराचार्य भी कर्म को अविद्या कहते हुए उसे चित्तशुद्धि का हेतु स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह कहना समीचीन होगा कि ब्रह्मसिद्धि के आधार पर कर्म एवं ज्ञान के समन्वय सिद्धान्त का प्रतिपादन अभिप्राय प्रकाशिकाकार आचार्य चित्सुख की अद्वैत वेदान्त को एक महनीय देन है।

---

1. M.M. Kuppuswami Sastri, Introduction to Brahmasiddhi. P. xxxvi
2. See, T.M.P. Mahadevan, The Philosophy of Advaita, —P. 245
3. See Modi's Translation of Siddhantabindu, Appendix II.

पारिभाषिक शब्दावली

अविद्या

मण्डनमिश्र ने अविद्या को दो प्रकार का स्वीकार किया है—

१. अग्रहण अविद्या

२. अन्यथाग्रहण अविद्या (ग्रहण अविद्या)

इस विषय में मण्डनमिश्र द्वारा निरूपित अविद्या का स्वरूप दर्शनीय है।

लयविक्षेपभेदश्च न स्यादग्रहमात्रके।
नन्वरूपावभासे स्याददृष्टकलकल्पना। —ब्र० सि० ३-१६७

मण्डनमिश्र ने मृत्यु को अविद्या स्वीकार किया है।

आम्नाय

"आम्नाय" से अभिप्राय सभी वेद एवं वेदाङ्गों से है। प्रत्यक्ष आम्नाय का बोध करता है अतः प्रत्यक्ष का आम्नाय से प्राबल्य सिद्ध होता है। मण्डन मिश्र का कथन इस विषय में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

मुख्या हि प्रत्यक्षादयः जातस्य जन्तोरपरकाल आम्नायः।

जीवन्मुक्ति

मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत जीवन्मुक्ति एवं सद्योमुक्ति दोनों को ही स्वीकार किया है। मण्डनमिश्र ने ब्रह्मज्ञान होने के अनन्तर प्रारब्ध कर्मों का फल के भोग करने के लिए जीवित साधकावस्था को ही जीवन्मुक्ति स्वीकार किया है। निम्नलिखित कथन में मण्डनमिश्र ने स्पष्ट रूप से जीवन्मुक्ति को स्वीकार किया है—

सा चेयमवस्था जीवन्मुक्तिरिति ज्ञायते।

चित्सुखाचार्य ने भी जीवन्मुक्ति का प्रशंसनीय स्वरूप प्रदर्शित किया है—

विदुषः प्रारब्धकर्मणां भोगेन क्षपणावस्था जीवन्मुक्तिः।

नियोग

"नियोग" शब्द के अर्थ उपयोग, प्रयोग, आदेश कर्त्तव्य आदि अनेक है। ब्रह्मसिद्धिकार मण्डनमिश्र के अनुसार नियोगविधि की इष्टसाधनता स्वीकार्य है।

ब्रह्म

ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत ब्रह्म के स्वरूप का श्लाघनीय विवेचन किया गया है। मण्डनमिश्र के अनुसार ब्रह्म एक, अमृत तथा विनाशरहित है। प्रस्तुत कारिका में ब्रह्म का स्वरूप नितान्त नैपुण्य से वर्णित है—

आनन्दमेकममृतमजं विज्ञानमक्षरम् ।
असर्वं सर्वमभयं नमस्यामः प्रजापतिम् ।। —ब्र०सि० १-१

अभिप्राय प्रकाशिकाकार चित्सुखाचार्य ने ब्रह्मानन्द का अंशत्व घटाकाशवत् स्वीकार किया है और कहा है—

घटाकाशवत् तदुपाध्यवच्छेदादिति । —अ०प्र० पृ० ३८

मोक्ष

ब्रह्मसिद्धिकार मण्डनमिश्र ने "अविद्यास्तमयो मोक्षः सा संसार उदाहृता' कहकर मोक्ष का प्रशंसनीय वर्णन किया है। मण्डनमिश्र ने मोक्ष को साध्य स्वीकार किया है। आनन्दपूर्णमुनि ने "मोक्षस्तु शब्दैकगम्यः" कहकर शब्द से ही इसका तत्व व्यवस्थापनीय हैं, ऐसा माना है। आनन्दपूर्णमुनि ने "बंधध्वंसो मोक्षः" नाविद्याध्वंस" कहकर बन्धन का विनाश ही मोक्ष स्वीकार किया है। भावशुद्धिकार एवं अभिप्राय प्रकाशिकाकार के मत में साम्य लक्षित होता है। इस सम्बन्ध में अभिप्रायप्रकाशिकाकार चित्सुखाचार्य का "संसारनिवृर्तिर्मुक्तिः न त्वविद्यानिवृत्तिर्मुक्तिः" कथन भी उल्लेखनीय है।

विपरीत ख्याति

मण्डनमिश्र ने विपरीतख्याति को अन्यथाख्याति तथा दोनों को अनिर्वचनीयख्याति माना है। ब्रह्मसिद्धिकार मण्डनमिश्र नें अन्यथाख्याति पद से अनिर्वचनीयख्याति पद का अभिप्राय लिया है। इस सम्बन्ध में मण्डन मिश्र का प्रस्तुत कथन उल्लेखनीय है—

प्रतिपादितमेतत् नाग्रहमात्रमेतत् अन्यथाख्यातिरस्तु ।

शब्दापरोक्षवाद

शाब्दापरोक्षवाद के अनुसार औपनिषद ज्ञान के द्वारा अपरोक्ष रूप से तत्वज्ञान सम्भव है। मण्डनमिश्र का मत है कि मनन पर आधारित प्रसंख्यान— अनुमान ही साक्षात्कार रूप से अपरोक्षज्ञान का कारण है।

सत्तात्रैविध्यवाद

"सत्तात्रैविध्य" से अभिप्राय, पारमार्थिक, प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक सत्ता से है। चित्सुखाचार्य एवं मण्डनमिश्र दोनों ही परमार्थ रूप से एकमात्र

ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं। ब्रह्मसिद्धिकार एवं अभिप्रायप्रकाशिकाकार दोनों ने शुक्ति में रजत की भ्रान्ति को अवभास स्वीकार किया है। चित्सुखाचार्य का कथन है "शब्दतत्वमेव प्रतिभायामवभासते।" इस प्रकार दोनों ने एकमात्र आत्मा एवं ब्रह्म की ही सत्ता का प्रतिपादन किया है।

सद्योमुक्ति

मण्डनमिश्र के अनुसार अभिप्रायप्रकाशिकाकार आचार्य चित्सुख ने सद्योमुक्ति तथा जीवन्मुक्ति दोनों को ही स्वीकार किया है। चित्सुखाचार्य का कथन है "ब्रह्मज्ञान होने के पश्चात् शरीर त्याग के अनन्तर आत्मस्थिति को सद्योमुक्ति कहते हैं।"

स्थितप्रज्ञ

ब्रह्मसिद्धिकार मण्डनमिश्र ने अनङ्गीकार पक्ष में "स्थितप्रज्ञस्तु साधकः न तु सिद्धः" कहकर स्थितप्रज्ञ को साधक स्वीकार किया है। भावशुद्धिकार आनन्दपूर्ण मुनि द्वारा निरूपत स्थितप्रज्ञ का स्वरूप भी प्रस्तुत अंश में उद्धरणीय है—

"स्थितप्रज्ञस्तावन्न साक्षात्कृतब्रह्मा, किन्तु शमादियुक्तश्रवणादिनिष्ठो नैरन्तर्येण श्रवणाद्यनुतिष्ठन्, अतस्तस्य देहधारणं युक्तम्।"

मण्डनमिश्र ने स्थितप्रज्ञ की परिभाषा स्पष्ट करते हुए कहा है—

"स्थितप्रज्ञस्तावन्न विगलितनिखिलाविद्यः सिद्धः किं तु साधक एवावस्थाविशेषं प्राप्तः।"

स्फोटसिद्धि

ब्रह्मसिद्धिकार मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित स्फोट तत्व का स्वरूप भी स्वीकार किया है। भर्तृहरि की तरह मण्डनमिश्र ने भी "ओमितीदं सर्वम्" इत्यादि श्रुतियों को प्रस्तुत करते हुए "ओङ्कार एवेदं सर्वम्" कहकर ओङ्कार को ही ब्रह्म स्वीकार किया है। इस सन्दर्भ में मण्डनमिश्र का प्रस्तुत कथन उल्लेखनीय है—

"तथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सृन्णान्यवमोङ्कारेण सर्वा वाक्सन्तृण्णा"

स्याद्वाद

जैन दर्शन के अन्तर्गत स्याद्वाद का सिद्धान्त निरूपित है। इस सिद्धान्त के अनुसार घट आदि विषयों का परामर्श "स्यादिस्ति" के रूप में ग्रहण किया जाता है। यह स्याद्वाद ही अनेकान्तवाद के रूप में प्रचलित है।

सहायकग्रन्थसूची

संस्कृत ग्रन्थ

अद्वैत सिद्धि : सरस्वती, मधुसूदन, निर्णय सागर, बम्बई, १९१७।

अभिप्राय प्रकाशिका : चित्सुखाचार्य, मद्रास गवर्नमेंट ओरियण्टल सीरिज, १९६३।

अर्थसंङ्ग्रह : लौगाक्षि भास्कर, सम्पादित उपाध्याय वाचस्पति, चौखाम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली, १९७३।

आत्मबोधः : शङ्कराचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९७३।

खण्डनखण्डखाद्यम् : श्रीहर्ष, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, १९८५।

गौडपादकारिका : गौडपादाचार्य, भण्डारकार-प्राच्य-विद्या-संशोधन, मन्द्रिरम्, पुणे, १९७३।

गौतमधर्मसूत्र : गौतम, चौखम्बा, संस्कृत सीरिज़, वाराणसी।

जैमिनि सूत्रवृत्तिः : जैमिनि, मेडिकल हाल प्रैस बनारस, १९२३

तत्त्वप्रदीपिका : चित्सुखाचार्य, सम्पादित स्वामी योगीन्द्रानन्द, उदासीन संस्कृत विद्यालय, वाराणसी, १९८५।

न्यायमञ्जरी : भट्ट जयन्त, चौखाम्बा संस्कृत सीरिज़, बनारस, १९३६।

पञ्चपादिका : पद्मपाद, मद्रास गवर्नमेंट, १९५८।

बृहती : मिश्र, प्रभाकर, शास्त्री एस० के०. रामनाथ, मद्रास विश्वविद्यालय, १९३४।

ब्रह्मसिद्धि : मण्डनमिश्र, शङ्खपाणि की टीकासहित, सतगुरु पब्लिकेशन्स, मद्रास, १९३७ ।

भावशुद्धि : आनन्दपूर्णमुनि, मद्रास गवर्नमेंट ओरियन्टल सीरिज् १९ ३ ।

मनुस्मृति : भट्ट श्री कुल्लूक, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९९०

लघुचन्द्रिका : गौड ब्रह्मानन्द, निर्णय सागर, बम्बई, १९१७ ।

विवरणप्रमेयसंग्रह : विद्यारण्य, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी ।

विवेक-चूडामणि : शङ्कराचार्य, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

वेदान्तसार : सदानन्द, सम्पा० राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली, १९८९ ।

श्लोकवार्तिक : भट्ट कुमारिल, एस० के० रामनाथ शास्त्री, मद्रास विश्वविद्यालय, १९४० ।

शास्त्रदीपिका : स्वामी किशोरदास, श्री साधुबेला संस्कृत महाविद्यालय वाराणसी ।

हिन्दी ग्रन्थ

अद्वैत वेदान्त :

इतिहास तथा सिद्धान्त : शर्मा, राममूर्ति, ईस्टर्न बुक लिंकर्स (द्वितीय संस्करण) १९८९ ।

भारतीय दर्शन : उपाध्याय, बलदेव

भारतीय दर्शन : मिश्र उमेश

भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा : स्वामी, किशोरदास, महालक्ष्मी ग्लास वर्क्स, बम्बई ।

मीमांसादर्शनविमर्श : उपाध्याय, वाचस्पति

वेदान्त अङ्क (कल्याण) : गीता प्रेस, गोरखपुर, १९८३ ।

शङ्कराचार्य (उनके मायावाद तथा अन्य सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन) : शर्मा, राममूर्ति, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली १९८९ (द्वितीय संस्करण)

ENGLISH BOOKS

A Concordance to the Principal Upaniṣads and Bhāgavad Gītā.	: Jacob, G. A. Motilal Banarsidas, 1971.
A History of Indian Philosophy	: Das Gupta, S. N., Cambridge University, 1968.
A Study of the Brahmasiddhi of Maṇḍana Miśra.	: Balasubramanian, R. Chaukhamba Amarabharati Prakashan, Varanasi, 1983.
Brahmasūtra Śāṅkara Bhāṣya	: Nirnaya Sagar, Bombay, 1934.
Buddhist Philosophy	: Keith A. Berriedile, Varanasi Sanskrit Series, 1963.
Citsukha's Contribution to Advāita.	: Sarma, Anjaveyna V. Kaivyalaya Publishers, Mysore, 1974.
Encyclopaedia of Vedanta	: Sharma Ram Murti, E. B. L. Delhi, 1993.
Epistemology of Bhaṭṭa school of Pūrva-Mīmāṃsā.	: Chaukhamba Sanskrit Series Varanasi, 1962.
Gauḍapāda	: Mahadevan, T. M .P. University of Madras, 1954.
Glimpses of Vedānta	: Sharma, Ram Murti, Eastern Book Linkers, Delhi, 1989.
Indian Philosophy	: Radhakrishnan S., Allen & Unwin, London, 1940.
Mīmāṃsā	: Thadani, N. V., Bharati Research Institute, Delhi, 1952.
Nyāya Mañjarī	: Bhaṭṭa Jayanta, Motilal Banarsidas, Delhi, 1978.

Pūrva Mīmāṃsā in its sources.	: Jha G. N., Banaras Hindu University, Varanasi, 1964.
Sanskrit-English-Dictonary	: Apate, V. S.
Some Aspects of Advaita Philosophy	: Sharma Ram Murti, Eastern Book Linkers, Delhi, 1985.
Tantravārttika	: Kumarila, Royal Asiatic Society of Bengal, 1924.
The Six Systems of Indian Philosophy.	: Maxmuller F., P.K. Paul, Associated Publishing House, New Delhi.
Index to The Brāhma-Sūtra Bhāṣya of Saṅkara, Part one & two	: Mahadevan, T. M. P., Centre of Advanced study in Philosophy, Madras, 1973.

शब्दानुक्रमणिका

अ

अक्षर ३६
अक्षरब्रह्म ६५
अख्यातिवाद १३२
अज ३६
अजातवाद ७
अज्ञान निवृत्ति ३४
अज्ञानी ४५
अदृष्ट ५२
अद्वैतवाद ३९
अद्वैतवादी २१
अद्वैतसिद्धि ३२
अधिकरण मंजरी ३, ४
अधिकरण सङ्गति ३, ४
अधिष्ठानवाद ३३
अध्यात्मवाद ३३
अध्यास ३१
अनन्तकृष्णशास्त्री ३३
अनात्मत्व ३९
अनिर्वचनीय-ख्याति ३५
अनिर्वचनीय ख्यातिवाद १२३, १२८
अनिर्वचनीयतावाद ३३
अनुपलब्धि ७२
अनुमान ७२, ७३
अन्यथाख्यातिवाद १२२, १२९
अन्योन्याश्रय ४८
अन्वयव्यतिरेकी २१
अन्विताभिधानवाद ३६, १३०
अपच्छेदन्याय ३३
अभय ३६
अभिप्राय प्रकाशिका ३, ५, ९, १७, २५,२६,५०,५९,८७,८९,९०,९२, ९५,९७,१०३,१०४,१०७
अवभास ४७
अभिहितान्वयवाद २६, १३०
अमृत ३६
अर्थबोधकता ७६
अर्थवाद ५७
अर्थापत्ति ७२, ७३
अलौकिक आनन्द ४१
अवच्छेद ४१
अवच्छेदवाद ११, ३५
अविद्या ११, १३, २२, २३, २४, २५, २९, ३२, ३४, ३५, ४१, ४६, ४७, ४९, ५०, ५१, ५२, ५६, ६५, ८८, १०४, ११९, ११४, १२३, १२४, १२५, १२६, १३२, १३६, १३८, १४१, १४२, १५९, १६४, १६६
अविद्योच्छेद ४३
अविशेषापत्ति ४१
अश्व दृष्टान्त ३४,
असत् ४६

असत्कार्यवाद २५, १४४, १४५
असत्ख्याति ३५
असत्ख्यातिवाद १२२
असद् विषयत्व ४७
असर्व ५६
अहं ब्रह्मास्मि ३८
अहिदंश ५२
अश्व दृष्टान्त ३०, ६८
अंशत्रय ८८

आ

आकांक्षा ७८
आगम ३३, ९४
आगम प्रामाण्य ३३
आत्मख्याति ४७
आत्मज्ञान ५७
आत्मप्रकाशता ३७
आत्मबोध ६२
आत्मा ३८
आत्मोपसना ५७
आठगुण ६०
आनन्द ३९
आनन्दपूर्णमुनि २३
आनन्दबोध २२
आनन्दबोधाचार्य ३
आभासवाद ११
आम्नाय, ७७, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८६, ८७, ९०, ९७, ९८, १०० १०२, १०४, ११२, १३२
आवरण ३५
आसक्ति ७८

इ

इतरेतराश्रय ४८
इष्टसिद्धि २०

ई

ईश्वर ३१
ईशावास्य उपनिषद् ५१

उ

उत्तम अधिकारी ३३
उदयनाचार्य १, २०
उद्योतकर २०
उपमान ७१, ७२, ७३
उपलब्धि ७०
उपादान कारण ३५
उपाधि ४१
उपाय ६३
उपेय ६३
उमेश मिश्र २७

ऋ

ऋणत्रय ५८, ५९
ऋणापकरण ३२

ए

एकात्मता ५१

ऐ

ऐकात्म्यभाव ४४

ओ

ओम् ३१
ओकार ६५

क

कथावत्थु १९
कनिष्क १९
कर्म ६४
कर्मफल ५३
कर्मयोगी ३४
कर्मविधि ३३
कल्पना ६८
किशोरदास स्वामी २७
कुप्पुस्वामी शास्त्री ३०
कुमारिल १, २२
केवलान्वयी २१
केवलाभास ४७
क्षणिक विज्ञानवादी ४५
केवल व्यतिरेकी २१
कैवल्य ५४

क्रिया ७४

ख

खण्डनखण्डखाद्य १३, १७

ग

गुरुमत ७०
गौडपाद २०
गोपालिका टीका ६८
गौतम ६०
गौतम सूत्र ६०

घ

घटाकाश ४१

च

चार्वाक दर्शन ७१
चालीस संस्कार ६०
चित्त ३७
चिद्रूपता २४
चित्सुखाचार्य १८५, २

छ

छान्दोग्य उपनिषद् ४८

ज

जगत् ७, २३, २५, ४४, ६८, ११८, १२१, १२३
जल्प १७
जयतीर्थ १८
जाग्रत ३५
जीव ४४
जीवन्मुक्ति २३, ५४, ५५, ५६, ५७
जीवाश्रयत्व ४७
ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी १८, २३, २४
ज्ञानविधि ६१
ज्ञानोत्तम १
ज्ञानोदय ५२

त

तत्त्वप्रदीपिका ३, ५, १६, २०, २७, ४३
तन्त्रवार्त्तिक ५७
तर्कपद्धति १७
तर्कविद्या २०
तिमिरारि २२

द

दासगुप्त १६
दिङ्नाग
दृक्शक्ति ४३
दृश्य ४३
दृश्य जगत् ४३
दृष्टि ५८
देवयानी ४३
देहपात ५४
देहात्मभाव ५८
द्रष्टा ४३
द्वैत ३६

ध

ध्यानाभ्यास५०
धर्म ३६
धर्मी ३६

न

नश्वर ३७
नागार्जुन २०
नानात्व ४५
निदिध्यासन ११, २५, ११५, ११६
नियोग ६६, १३३
नियोग काण्ड २८, ३४
नियोग-वाक्यतर्थावाद १०१
निर्गुण ४१
निषेधात्मक पद्धति १७
नेति नेति ३३
नैष्कर्म्यसिद्धि ३, ५
न्यायकल्पतरु २२
न्याय दर्शन (प्रभाव) ७०
न्यायमकरन्द २१
न्यायमञ्जरी ७०
न्यायवैशेषिक १८
न्यायसूत्र १६

प

पक्षधर्मता २२

पञ्चपादिकाविवरण २०
पञ्चापादिकाविवरणव्याख्या ३
पतञ्जलि १६
पद्मपाद १
परमाद्वैत ५८
परमार्थ ४६
परिणामवाद ३४
पाप ५७
पुरुषार्थ ६१
पुरुषार्थत्व ३७
पूजा ६६
पूर्वधर्म ६५
प्रकाशात्मयति २६
प्रकाशात्मा १, २०
प्रणव ६६
प्रजापति ३६
प्रतिपत्तियाँ ६६
प्रतिपत्तिविधि ३४
प्रतिबिम्बवाद १२, ३५
प्रत्यक्ष ८०, ८२, ८३, ८४
प्रत्यक्षप्रामाण्य ३३
प्रधानकारणवाद ६
प्रपञ्च ५०
प्रभाकर २२
प्रमा १५
प्रमाण ७०, ७१
प्रमाणरत्नमाला २१
प्रमाणरत्नमालाव्याख्या ३, ४, ६
प्रमाणवाद २४
प्रमेय ३८
प्रवृत्ति ७५
प्रारब्ध कर्म ३४

ब

बद्ध ४३
बलदेव उपाध्याय २७
बल्लभ १
बालसुब्रमनियन २७
बीजशक्ति ५२
ब्रह्म ७, २३, २४, २६, ३६, ४०, ४३, ४५, ४६, ४८, ५०, ५१, ५७, ६६, १०३, १०६, ११०, ११३, ११४, १२१, १२४, १३१, १३२, १३३, १३४, १३५, १३७, १४३, १४८, १४६, १५०, १५४, १५५, १५६, १५७, १५८, १५६, १६० १६१, १६२, १६६
ब्रह्मज्ञानी ६३
ब्रह्मकाण्ड २८
ब्रह्मचिन्तन ६६
ब्रह्मतत्त्व ३६
ब्रह्मदत्त ४२
ब्रह्मदर्शन ८७
ब्रह्मदृष्टि ६६
ब्रह्मस्तुति ३
ब्रह्मसिद्धि ३५
ब्रह्मसूत्र-भाष्यभाव-प्रकाशिका ३
ब्रह्मानन्द २३, ४१
ब्रह्मावस्था ५२

भ

भामतीप्रस्थान १०, १२, ३५
भावतत्त्वप्रकाशिका ३, ६
भावदीपिका ३, ५
भावनाथ २२
भावना-विध्यर्थतावाद १०१
भावरूपता ३६
भावशुद्धिकार ४३

भावाद्वैतवाद ४२
भासर्वज्ञ २२
भेदादर्शन ५०
भेदवगाही प्रत्यक्ष ३४
भ्रान्ति ४७

म

मण्डनमिश्र ९, २८, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ४२, ४३, ५४, ५५,५८, ६४, ९७, ९८, १०५, १०६, ११३, ११७, १२८, १४१, १४२, १५०, १५३
मधुसूदन सरस्वती ३२
मध्यम अधिकारी ३३
मनन २५, ११५, ११६
महाभाष्य १९
महामोक्ष परिषद् १९
मानमेयोदय ७०
मिथ्या ४८
मीमांसा दर्शन (प्रमाण) ७०
मुक्त ४४
मुक्तावस्था ५२
मुमुक्षु ३७
मुक्तिदशा ४१
मुमुक्षु ३६, ३७
मैत्र ४३
मोक्ष ७, २३, २५, ३२, ४३, ५२, ५५, ५७, ५९, १४३, १६३, १६४, १६५, १६६
मोह ५७

य

योग्यता ७८

र

राममूर्ति शर्मा २७
राघाकृष्णन् २७
रेखागवय ५१

ल

लघुचन्द्रिका ३२
लौकिक आनन्द ४१

व

वल्लभाचार्य २
वसुमित्र १९
वस्तुसिद्धि १७
वाक् ६७
वाचस्पति उपाध्याय २७
वाचस्पतिमिश्र १, २६
वात्स्यायन २०
वाद १९
वादिवागीश्वर २२
विकार ६८, ६९
विक्षेप ३५
विज्ञान ३६
विज्ञानवाद २४
विज्ञानवादी ४५
विज्ञानात्मा ३१
विदेह मुक्ति २५, ५३, १४२
विद्या ४१
विद्वत्सन्यासी ३५
विपरीत ख्याति १२६, १२६
विवरण प्रस्थान १०, १२
विवरण सम्प्रदाय १६१, १०
विवर्त ६८, ६९, ११८, ११९, १२० १४६, १४७
विवर्तवाद ३४, १४४
विशिष्टाद्वैतवादी १८
विषयानुभव ५३
विषयभोग ५३
विषाद ३४
वी० आञ्जनेय शर्मा २७
वृत्ति ३८

वृत्ति व्याप्यता २९
वेदान्त विधि ३३
वेदान्त दर्शन (प्रमाण) ७०
वेदान्तसार २७
वेदान्तसिद्धान्तकारिकामंजरी ३, ३, ६
वेंकटनाथ १८
वैतण्डिक १३
वैभाषिक ४७
वैशेषिक दर्शन (प्रमाण) ७१
व्यतिषंग ७७, ७८
व्याप्ति ज्ञान ८२
व्यास १८

श

शङ्कर-दिग्-विजय ३
शब्द शक्ति ७५
श्लोकवार्तिक ५७
शंकराचार्य १८
शालिकनाथमिश्र १, २२
शोक ५७
श्रवण २५, ११४, ११५, ११६
श्रवणादि लक्षणा अविद्या ५१
श्रीमद्भागवद्गीता ३०
श्री वल्लभ २२
श्रीहर्ष २०

ष

षड्दर्शनसंग्रहवृत्ति ३

स

सच्चिदानन्द स्वरूप ४१
सत् ७, ४६
सत्कार्यवाद १४४, १४६
सत्ख्यातिवाद ३५, १२३
सत्ता त्रैविध्यवाद २५
सद्योमुक्ति ५४, ५५, ५६, ५७
सन्निधि ७८
सम्प्रदायविद् ७
समानाधिकरणभाव ६७
सर्वज्ञात्ममुनि २०
सर्वात्मभाव ६७
सर्वात्मवाद ६७
साक्षात्कार ३२
साक्षात् पद्धति ३३
साधक ३०, ५६
सामान्यात्मा ६५
सिद्धि ५६
सिद्धिकाण्ड २८, ३५
स्थितप्रज्ञ ३०, ३४, १३९, १४०, १४१, १४२, १६४, १६५
सुखप्रकाश २
सुरेश्वराचार्य १, ५३
सुषुप्ति २
सौत्रान्तिक ४७
संयोगपृथक्त्व १०६
संवादात्मक पद्धति २०
संविद्रूपता २४
संस्कार ५८, ६०
संस्कार दशा ५६
संसार दशा ४१
स्फोट सिद्धि ६८, ३१
स्फोटवाद ३१
स्यादवाद ९३
स्वतः प्रमाण्यवाद ८५, ८६, ८७
स्वप्न दृष्टान्त ३४
स्वरूपाविभाव साध्यता ३४
संक्षेप शारीरिक २०
सांख्य दर्शन ७०
सांख्य योग (प्रमाण) ७१

ह

हेतुवाद २१
हर्षवर्धन १९

NEW RELEASES FOR E.B.L.

1. ENCYCLOPAEDIA OF VEDĀNTA—
   Prof. Ram Murti Sharma (1993) 450.00
2. BUDDHIST PHENOMENOLOGY : A THERAVĀDA PERSPECTIVE—Chandra B. Varma (1993) 200.00
3. THERAVĀDA BUDDHISM (Based on Pāli Sources)
   —RONALD, S. Copleston, Ed. by Harcharn Singh Sobti (1993) 250.00
4. ESSAYS ON BUDDHISM AND PĀLI LITERATURE
   —Angraj Chaudhary (1994) 250.00
5. VIJÑAPTIMĀTRATĀSIDDHI (VIṂŚATIKĀ) with Introduction, Translation and Commentry)-
   T. R. Sharma (1993) 150.00
6. THE GANDHAVAṂŚA (A History of Pāli Literature)
   —Bimalendra Kumar (1992) 90.00
7. SATYA-SUDHĀ (A Critical Evoluation of Dr. Satya Vrat Shastri Creative Works)—Ed. Satya Vrat Varma (1993) 700.00
8. WORD INDEX TO THE VĀKYAPADĪYA OF BHARTṚHARI—Prof. Saroja Bhate & Yashodhara Bhat (1992) 450.00
9. GLORY THAT WAS BUNDELKHAND
   (श्री महेन्द्रकुमार मानव अभिनन्दन ग्रन्थ)
   —Ed. Prof. K.D. Bajpai (1993) 800.00
10. ŚAKTIVĀDA : Theory of Expressive Power of Words
    —Dr. V. P. Bhatt (1994) 300.00
11. BHĀVNĀVIVEKA OF MAṆḌAN MIŚARA
    (English Translation with Notes)—
    Dr. V. P. Bhatt (1994) 300.00
12. A CONCISE ENCYCLOPAEDIA OF EARLY BUDDHIST PHILOSOPHY—Chandra B. Varma (1992) 300.00
13. DURGĀ : THEME IN VARANASI WALL PAINTINGS—Prem Shankar Dwivedi (1993) 300.00
14. POETRY CREATIVITY AND AESTHETIC EXPERIENCE—Dr. Natwar Lal Joshi (1994) 300.00

Please mail your order to : Ph. : 2520287

Eastern Book Linkers

(INDOLOGICAL PUBLISHERS & BOOKSELLERS)

5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar, DELHI-110007